विजयधर्मसूरि गुरुवन्दना

ख्याता ये प्रभुतावन्ति मुनिगुणैः सत्संयमाराधकाः,
विद्वद्वृन्दसुपूजितांघ्रिकमलाः काश्यां [illegible] ।
कृत्वाहर्निशमुत्तमं जिनश्रुतं येऽध्यापयन् [illegible],
ते पूज्या गुरुवर्य धर्मविजयाः कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥१॥

ये जैनागमवारिधिपार गमिनश्चारित्ररत्नाकराः
ये कारुण्यसुधाप्रपूर्ण हृदया लोकोपकारोद्यताः ।
सद्विद्याः सकला मुदा प्रतिदिनं येऽध्यापयन् सेवका,
स्ते पूज्या गुरुसूरिधर्मविजया जीयासुरुर्वीतले ॥२॥

वाराणसीं विबुधसेवितपादपद्माः
सज्ज्ञानदानपरितोषित शिष्यसंघाः ।
यज्जीवितं सततमेव परोपकृत्यै,
तत्सूरिधर्म विजयांघ्रियुगं नमामः ॥३॥

संस्थाप्य काश्यां शुभज्ञानशाला,
मध्यापयन् शिष्यगणान् सुविद्याः ।
परोपकाराय यदीयजीवितं,
तद्धर्मपादाब्जयुगं स्मरामः ॥४॥

—पं. पूर्णानंदविजय (कुमार श्रमण)

जगत्पूज्य, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य, स्व. श्री.
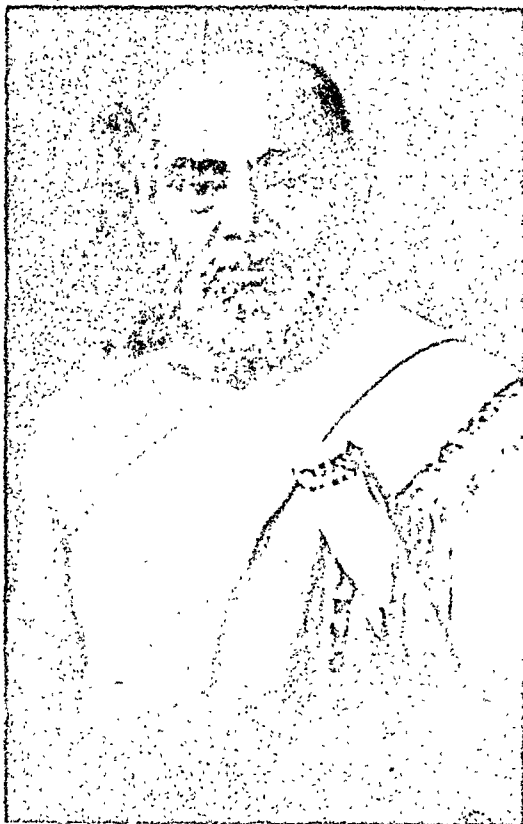
श्रीमद्विजयधर्मसूरीश्वरजी म. सा.

A. M. A. S. B. H. M. A. S. I. H. M. G. O. S.,

जन्म सं. १९२४ दीक्षा सं. १९४३ स्वर्गगमन सं. १९७८

प्रकाशकीय निवेदन

परमपूज्य, पंन्यासजी श्री पूर्णानन्दविजयजी (कुमार श्रमण) तथा वयोवृद्ध, मुनिराज श्री देवविजयजी म. के वरद्हस्तों से स्थापित श्री विद्याविजयजी स्मारक ग्रन्थमाला नामकी संस्था हमारे साठंबा संघ के लिए गौरवप्रद बनने पाई है।

शासनदीपक, अद्वितीयवक्ता, पूज्यपाद, मुनिराज श्रीविद्याविजयजी महाराज-जिनका प्रभावशाली मुखमंडल, हास्य युक्त मुखाकृती, मस्तकपर धवल-विरल केशराशि, महावीरस्वामी के अहिंसाधर्म को सूचित करने वाले-शुद्ध-पवित्र खादी के वस्त्रों से आवृत्तशरीर, मन्द तथा विनम्रचाल, शान्तस्वभाव, फिर भी समाज की विषमताओं से व्यथित होकर प्रलयकारी तूफान, तथा प्रतिवादी के लिए अद्वितीय व्यक्तित्व था :—

> आंखों में हो तेज, तेज में सत्य, सत्य में ऋजुता।
> वाणी में हो ओज, ओज में विनय, विनय में मृदुता॥

पूज्यगुरुदेव की आंखे तेजस्वी थी, तेज में भी सत्यता थी और सत्य भी सरलता से देदीप्त था। उनकी वाणी ओजस्विनी थी, ओजस भी विनयमय वह भी मृदुतामय था। शासन तथा समाज की सेवा में अहिंसा तथा सत्यधर्म के प्रचार में तथा पालन में आप सर्वथा अजोड़ थे।

साठंबा (साबरकांठा-गुजरात) जैसे छोटे गांव में जन्म लेकर अपने सद्गुणों से विकसित होकर जगत में प्रसिद्ध बनने पाये थे। इसी कारण से पूज्यगुरुदेव की स्मृति हमारे संघ को सदैव बनी रहे, तदर्थ उनके नाम से इस संस्था को स्थापित करने में हमें बड़ा भारी आनन्द है। इसकी स्थापना फंड एकत्र करने का नहीं है तथा मिथ्याप्रचार के लिए भी नहीं है, केवल सम्यग्ज्ञान का प्रचार ही हमारा मुद्रालेख है, वह भी हमारी शक्ति के अनुसार कर रहे हैं उसकी हमें प्रसन्नता है।

आज से ४२ वर्ष पूर्व पूज्यगुरुदेव के करकमलों से करांची (सिंध) में दीक्षित होकर शिक्षित बने हुए, पू॰ पंन्यासजी श्री पूर्णानन्दविजयजी महाराज भगवतीसूत्र के अधिकारी होने से अच्छे अच्छे शहरों के चातुर्मास में भगवतीसूत्र का प्रसाद चतुर्विध संघ को किया हुआ है, जभी तो पूज्यगुरुदेव से अत्यंत संक्षिप्त में लिखा हुआ भगवतीसूत्र पंन्यासजी के हाथों इतना विशद सरल तथा विस्तृत बनने पाया है।

पांच शतक पर्यंत का प्रथम भाग गुजराती भाषामें दो आवृति हिन्दी में एक आवृति से प्रकाशित हुआ। ६ से ११ शतक तक का दूसरा भाग। १२ से २० शतक का तीसरा भाग प्रकाशित हो चुका है अब चतुर्थ भाग छप रहा है जिसमें ग्रन्थ का समापन होगा।

दूसरे भाग के प्रस्तुत ग्रन्थ को हिन्दी भाग में प्रकाशित करने का गौरव हमें प्राप्त हो रहा है यह हमारे लिए खूब सौभाग्य का विषय है क्योंकि छोटे से गांव तथा संघ के लिए इतना बड़ा कार्य पूर्ण होना सचमुच आनन्ददायक ही होता है क्योंकि भगवतीसूत्र का इतनी सरलभाषा में प्रकाशित होना बड़ा कठिन काम है।

जिन जिन संघो ने तथा पुण्यशाली व्यक्तिओं ने द्रव्य सहायता दी है वे सब धन्यवाद के पात्र हैं।

बम्बई सांताक्रुज, संगीता प्रिंटिंग प्रेस के मालिक श्री तिवारी जी के हम कृतज्ञ हैं, जिन्होंने अपना ही कार्य समझकर शीघ्रता से पूर्ण किया है।

ग्रन्थ लेखक पू. पंन्यासजी के हम तथा हमारा संघ सदा ऋणी रहेगा जिन्होने हमको सत्प्रवृति में लगाया हैं भविष्य में भी यही आशा रखे वह अनुचित नहीं है।

निवेदक—संघसेवक :

संघवी जगजीवनदास कस्तुरचंद शाह

C/o. श्रीविद्याविजय स्मारक ग्रन्थमाला

१९३६, विजयादशमी

लेखकीय निवेदन

पांच शतक पर्यंत भगवतीसूत्र सारसंग्रह का प्रथम भाग गुजराती भाषा में जब प्रकाशित हुआ उस समय मुझे स्वप्न में भी ख्याल नहीं था कि भगवतीसूत्र जैसे आगमीयग्रन्थ पर मैं दूसरा भाग भी लिख सकूंगा ? परंतु गुरुदेव की अमीकृपा से दूसरा तथा तीसरा भाग भी २० शतक पर्यंत पूर्ण होकर प्रकाशित हुआ, और अब चतुर्थ भाग जिसमें भगवतीसूत्र के ४१ शतक की पूर्णाहुति होगी वह भी छप रहा है।

मेरे जैसे सर्वथा निःसहाय के लिए द्वादशांगी में सर्वश्रेष्ठ भगवतीसूत्र (विवाहपण्णत्ति) को सादी भाषा में पूर्ण करना दुःसाहस ही था तो भी गुरुकृपा से प्राप्त हुआ क्षयोपशम ही मेरा साथीदार बना और कार्य की समाप्ति निकट भविष्य में हो रही है।

आज दूसरे भाग का हिन्दी अनुवाद तैयार होकर आपके करकमलों में आरहा है, आशा है कि आप के द्वारा आदर पाया हुआ यह ग्रंथ मेरा उत्साह-बढ़ाने का कार्य करेगा ?

पूज्य गुरुदेव, शासनदीपक, अहिंसाधर्म के प्रचारक, मुनिराज श्री विद्याविजयजी महाराज ने ६ शतक तक मूलसूत्र आधारित विवेचन किया था उस पर-मैंने प्रत्येक प्रश्नों का तथा महावीरस्वामीजी ने जो जवाब फरमाये उसको यथामति विस्तृत करके लोक-भोग्य बनाने का प्रयत्न किया है। पांच शतक पर्यंत पहला भाग पूर्ण हुआ। छट्ठे शतक को शेष रखने का कारण यह था कि मुझ जैसे भाव प्रमादी को दूसरा भाग तैयार करने का

प्रस्तावना के लेखन में जैनाचार्य १००८ श्रीविजय कीर्तिचन्द्रसूरीश्वर-जी म. का तथा जेकेट पर रहा हुआ त्रिरंगी समवसरण ब्लोक देने की उदारता बतलानेवाले योगनिष्ठ आचार्यश्री बुद्धिसागरसूरीश्वरजी के प्रशिष्य जैनाचार्य श्री दुर्लभसागरसूरीश्वरजी म. का अहसान मैं कैसे भूल सकूँगा।

द्रव्यसहायक बननेवाले संघों को तथा अन्य भाग्यशालीओं को मेरा धर्मलाभपूर्वक धन्यवाद है।

अनुवादिका उदयपुर निवासिनी अ. सौ. राजमणि गोरवाडा को मेरा सधर्मलाभ आशीर्वाद है कि ऐसे उमदा कार्यों में हमेशा प्रयत्नशील रहे।

संगीता प्रिंटिंग प्रेस के मालिक ने यह काम सुन्दररूप से तथा शीघ्रता से पूर्ण किया है, एतदर्थ धन्यवाद के पात्र हैं।

(प्रथम भाग गुजराती का अनुवाद)

निवेदक :

पं. पूर्णानन्दविजय (कुमारश्रमण)

C/O. श्री चन्द्रप्रभ जैन मंदिर पेढ़ी,
जयप्रकाश रोड, अंधेरी (वेस्ट)
बम्बई ४०० ०५८.

नवयुग प्रवर्तक शास्त्रविशारद जैनाचार्य

स्व. विजयधर्मसूरीश्वरजी म. का जीवनवृत्त

बहुत ही ऊंचे पहाड़पर खड़े रहकर समीप में रहे हुए शहर को यदि देखा जाय तो तमाम सभी मकान, वृक्ष एक समान ही दिखने में आयेंगे क्योंकि देखनेवाला बहुत ही ऊंचा आ पहुंचा है। इसी प्रकार मानव की मानवता, तथा दयालु की दयालुता जब अच्छी तरह से विकसित हो जाती है, तब वह मानव मानव के शरीर में ही देवता बन जाता है? मेरे दादागुरु श्रीविजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज की आत्मा मुनिपद स्वीकार करने के पश्चात् दिन प्रतिदिन ऊंची चढ़ती गई, साधुता का विकास होता गया, व्यक्तित्व खिलता गया, वक्तृत्व में रोचकता तथा उपादेयता बढ़ती गई, जीभ में मिठास की वृद्धि होने पाई, तथा आंखों में मानव समाज पर असीम प्रेम की धारा सर्वोच्छलित होती गई, इसी से देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी के ७४, वीं पाट पर आसीन होकर शासन की शोभा व समाज की सेवा अद्वितीयरूप में कर पाये हैं।

पालीताना गिरनारजी आदि तीर्थभूमिओं से पवित्रतम बने हुए सौराष्ट्र (काठीयावाड) देश में महुवा नाम की नगरी में रामचन्द्रशेठ तथा कमला शेठाणी रहते थे। धार्मिक जीवन के उपासक, सरल परिणामी भद्रिक तथा भावदया से परिपूर्ण उन दंपती के यहां पर देवभूमि का त्यागकर विजयधर्मसूरीश्वरजी की आत्मा मूलचंद्र के नाम से अवतरित हुई? माता-पिता के प्यार में बाल्यजीवन पूर्ण हुआ और विद्याभ्यास तरफ बढ़ने का प्रयत्न किया परंतु साधुता की उच्चतम भूमिका प्राप्त करनेवाली आत्मा को पेट भरने की विद्याओं से अथवा पापोत्पादक व वर्धक द्रव्यो-

प्रस्तावना के लेखन में जैनाचार्य १००८ श्रीविजय कीर्तिचन्द्रसूरीश्वर-जी म. का तथा जेकेट पर रहा हुआ त्रिरंगी समवसरण ब्लोक देने की उदारता बतलानेवालों योगनिष्ठ आचार्यश्री बुद्धिसागरसूरीश्वरजी के प्रशिष्य जैनाचार्य श्री दुर्लभसागरसूरीश्वरजी म. का अहसान मैं कैसे भूल सकूँगा।

द्रव्यसहायक बननेवालों संघों को तथा अन्य भाग्यशालीओं को मेरा धर्मलाभपूर्वक धन्यवाद है।

अनुवादिका उदयपुर निवासिनी अ. सौ. राजमणि गोरवाडा को मेरा सधर्मलाभ आशीर्वाद है कि ऐसे उमदा कार्यों में हमेशा प्रयत्नशील रहे।

संगीता प्रिंटिंग प्रेस के मालिक ने यह काम सुन्दररूप से तथा शीघ्रता से पूर्ण किया है, एतदर्थ धन्यवाद के पात्र हैं।

(प्रथम भाग गुजराती का अनुवाद)

निवेदक :

पं. पूर्णानन्दविजय (कुमारश्रमण)

C/o. श्री चन्द्रप्रभ जैन मंदिर पेढ़ी.

जयप्रकाश रोड़, अंधेरी (वेस्ट)

बम्बई ४०० ०५८.

नवयुग प्रवर्तक शास्त्रविशारद जैनाचार्य

स्व. विजयधर्मसूरीश्वरजी म. का जीवनवृत्त

बहुत ही ऊंचे पहाड़पर खड़े रहकर समीप में रहे हुए शहर को यदि देखा जाय तो तत्रस्थ सभी मकान, वृक्ष एक समान ही दिखने में आयेंगे क्योंकि देखनेवाला बहुत ही ऊंचा जा चुका है। उसी प्रकार मानव की मानवता, तथा दयालु की दयालुता जब सच्ची तरह से विकसित हो जाती है, तब वह मानव मानव के शरीर में ही देवता बन जाता है? मेरे दादागुरु श्रीविजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज की आत्मा मुनिपद स्वीकार करने के पश्चात दिन प्रतिदिन ऊंची चढ़ती गई, साधुता का विकास होता गया, व्यक्तित्व खिलता गया, वक्तृत्व में रोचकता तथा उपादेयता बढ़ती गई, जीभ में मिठास की वृद्धि होने पाई, तथा आंखों से मानव समाज पर असीम प्रेम की धारा प्रवाहित होती गई, तभी तो देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी के ७४, वीं पाट पर आसीन होकर शासन की शोभा व समाज की सेवा अहर्निशरूप में कर पाये हैं।

पालीताना गिरनारजी आदि तीर्थभूमिओं से पवित्रतम बने हुए सौराष्ट्र (काठीयावाड) देश में महुवा नाम की नगरी में रामचन्द्रशेठ तथा कमला शेठाणी रहते थे। धार्मिक जीवन के उपासक, सरल परिणामी भद्रिक तथा भावदया से परिपूर्ण उन दंपती के यहां पर देवभूमि का त्यागकर विजयधर्मसूरीश्वरजी की आत्मा मूलचंद्र के नाम से अवतरित हुई? माता-पिता के प्यार में बाल्यजीवन पूर्ण हुआ और विद्याभ्यास तरफ बढ़ने का प्रयत्न किया परंतु साधुता की उच्चतम भूमिका प्राप्त करनेवाली आत्मा को पेट भरने की विद्याओं से अथवा पापोत्पादक व वर्धक द्रव्यो-

पार्जन में कभी भी रस आता नहीं है। मूलचन्द की भी यही दशा रही, और भावनगर शहर में आकर माता पिता की आज्ञा से शान्तमूर्ति श्री वृद्धिचन्द जी महाराज के चरणों में दीक्षित हुए और धर्मविजयजी के नाम से प्रसिद्ध बने।

जीवन की दिशा यदि सत्यमार्ग पर है, तो वह साधक पतनोन्मुखी न बनकर प्रतिक्षण विकासोन्मुखी बनता है और हर समय में शिक्षित बनने का प्रयत्न करता है। नूतनमुनि की अपने गुरु के चरणों में पूर्णश्रद्धा, जीवन के अणु अणु में उत्साह तथा ब्रम्हचर्य धर्म की पालना में पूर्ण सावधान तथा जागृत रहने से आगे का विकास बहुमुखी होता गया फलस्वरुप आवश्यक सूत्रों के पठन के पश्चात संस्कृत, प्राकृत, मागधी, पाली भाषा के उपरांत जैनशास्त्रों के तथा स्याद्वाद नय-प्रमाण आदि के सिद्धांतो के पारगामी बनकर, लंडन, जर्मनी अमेरिका, नार्वे फ्रांस व पेरिस आदि देशो के अकाट्य विद्वान डा. एफ. डब्ल्यु थामस। प्रो. हर्मन जेकोबी। डॉ. जेहन्स ए. गेरीनोट ! डा. एल. पी. टेसीटोरी, प्रो. बेलोनी फिलीप्पी। डा. पेटोल्ड, डा. जोननोबेल। डा. रेलमुथ। डा. डब्ल्यु किरफल। डा. डब्ल्यु शुब्रिंग। डा. हेनरीच। डॉ. जे-जोली। डा. विन्टर नेझ। प्रो. एर्नेस्टल्युमेन। डा. स्टेनकोनो। डॉ. एम मिरोनाव। डॉ. ए. एफ रुडोल्फ। डा. चार्लस एलीयट आदि सैंकड़ो पाश्चात्य विद्वानों को अपने चरणों में रखकर जैनागम स्याद्वाद इतिहास, भूगोल तथा शताब्दीओं से बदलती हुई देश की परिस्थिति का सत्यस्वरुप समझा सकने में पूर्ण सफल बने थे। इन सब कठिनतम कार्यों में गुरु सेवा का फल स्वरुप आशीर्वाद ही रहा है।

जिन गुरुदेव के आशीर्वाद से उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हुआ हो, उनका स्वर्गगमन होना शिष्य के लिए असह्य परिस्थिति का कारण बनता है, तो भी आध्यात्मिक योगी के लिए ये बाह्यपरिस्थिएँ आन्तर खोज का भी कारण बनती हैं। यही कारण था की गुरु के स्वर्गवासांतर विजय-धर्मसूरीश्वरजी महाराज की प्रवृतिए सर्वतोमुखी बनकर पूर्णरुप से सफल

बनने पाई है, जिसको आजका सम्यक्‌त्वसम्पन्न जैन समाज का बच्चा भी इन्कार कर नहीं सकता।

जिसके कुछ नमुने—

(१) काशी बनारस में श्री यशोविजयजी जैन संस्कृत विद्यालय के माध्यम से सैकड़ों जैनो को संस्कृत-प्राकृत-मागधी-पाली आदि भाषाओं के सकाट्य विद्वान बना सके थे।

(२) यशोविजयजी जैन ग्रन्थमाला के माध्यम से न्याय-व्याकरण-काव्य-महाकाव्य-छन्द-कोष तथा आगमीय साहित्य को प्रकाशित करवाकर भारत तथा पाश्चिमात्य के विद्वानों को विनामूल्य वितीर्ण कर पाये थे।

(३) भारतदेश के अन्य स्थलो में, पाठशाला विद्याशाला, धर्मशाला, लायब्रेरी, बोर्डिंग आदि की स्थापना करवाकर सुषुप्त जैन समाज में सरस्वती की उपासना पुनः प्रतिष्ठित करवा सके थे।

(४) उपरियालादितीर्थोद्धार, यशोविजयजी जैन गुरुकुल पालीताना यशोविजयजी जैनबालाश्रम महुवा, जैन स्वयंसेवक मंडल बम्बई आदि बहुत सी संस्थाएँ आज भी जैन समाज की बहुमुखी सेवा कर रही है।

(४) अहिंसादिग्‌दर्शन जैनशिक्षादिगदर्शन, धर्मदेशना आदि ग्रन्थों के निर्माण से बंगाल-बिहार-उडीसा-आसाम- उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश आदि देशों में अहिंसा संयम तथा तपोधर्म का किया हुआ प्रचार आज भी चिरस्मरणीय है।

(५) जैनाचार्य श्री विजयेन्द्रसूरिजी। सत्क्रियाभिरुचि जैनाचार्य श्री विजयभक्तिसूरिजी। न्यायव्याकरण, स्याद्वाद, नय, प्रमाण, सप्तभंगी आदि विषयों के अद्वितीय अभ्यासी उपाध्याय पद विभूषित श्रीमंगलविजयजी। प्रचंडवक्तृत्व के माध्यम से बहुमुखी प्रसिद्धिप्राप्त, शासनदीपक मुनिराजश्री विद्याविजयजी म. न्याय के अस्खलित व्याख्याता, न्यायविशारद

न्यायतीर्थ, मुनिश्री न्यायविजयजी म. ऐतिहासिक विद्वान, शांतमूर्ति, मुनिराज श्रीजयंतविजयजी महाराजादि एक एक विषय के धाकड़ विद्वान मुनिराज उनके शिष्य थे।

उनमें से शासनदीपक, मुनिराज श्रीविद्याविजयजी महाराज मेरे गुरुदेव थे, जिन्होंने भगवतीसूत्र के छः शतक का विवरण किया था जो आज दूसरे भाग के माध्यम से प्रकाशित हो रहा है।

भगवतीसूत्र पर बहुत कुछ लिखा गया है, परन्तु वे सब मंगलाचरण के श्लोकों से आगे बढ़ने नहीं पाये जबकि मेरा यह प्रयत्न भगवतीसूत्र के पेट (उदर) में प्रवेशकर गौतमस्वामी आदि के प्रश्न तथा देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी के जवाबों को खूब सुंदर ढंग से विवृत करने में रहा है, जिवाभिगम। प्रज्ञापनासूत्र उत्तराध्यायनसूत्रादि में दृष्टिपातकर बहुत से प्रश्नो को मेरी यथामति मैंने स्पष्ट किया है, फिर भी मैं छद्मस्थ हूँ अतः क्षमाप्रार्थी हूँ।

मूल, टीका, तथा और भी अनुवादित ग्रन्थों का निरीक्षण करने के पश्चात ही मेरा उत्साह बढ़ा, क्षयोपशम ने साथ दिया, स्वर्गस्थ गुरुदेव ने आशीर्वाद दिया इसीलिए मेरा दुःसाहस भी सुसाहस बनने पाया है।

लेखक वक्ता तथा विवेचको का दृष्टिकोण एकसा होना नितांत असंभव है क्योंकि सभी का मतिज्ञान एकसा नहीं होता है। इसी न्याय से मेरा दृष्टिकोण केवल सामाजिक रहा है अतः प्रत्येक प्रश्नों को तथा जवाबों को मानवता के आधार पर विवेचित किये हैं।

अंत में पू. गुरुदेव, सरस्वतीमाता तथा पद्मावतीमाता को वन्दनकर तथा मुझे सब प्रकार से सहायक बननेवाले उदारमना जुदे-जुदे संघों के भाग्यशालिओं का मैं एहसान मानकर विराम लेता हूँ।

लि. न्याय. व्याकरण काव्यतीर्थ

पंन्यास पूर्णानन्दविजय

(कुमार श्रमण)

C/o. श्री चन्द्रप्रभ जैन मंदिर
जे. पी. रोड, अंधेरी (वेस्ट),
बम्बई ५८.

※ ※ ※

प्रस्तावना

त्रिकालाबाधित, अविच्छिन्न प्रभावशाली श्री जैनशासन सर्वत्र सब प्रकार से जय पा रहा है।

श्री तीर्थंकर देव अपने पूर्व के तीसरे भव में वीसस्थानक तपकी आराधना करते हुए यह भावना भाते हैं कि—

"सवि जीव करूं शासन रसी
इसी भावदया मन उल्लसी"

जब संसारके समस्त जीवों के प्रति हृदय में ऐसी उदार, उदात्त और उत्तम करुणा और भावदया का स्रोत बहने लगता है, तब वे तीर्थंकरदेव की आत्माएं तीर्थंकर नामकर्म की महान् पुण्यप्रकृति का निकाचित बंध करते हैं। जिसके प्रभाव से आगे के तीसरे भव में वे तीर्थंकर पद प्राप्त करते हैं। देवलोक से च्यवकर माता की कुक्षि में आते ही देव और देवेन्द्रों के अचल सिंहासन भी कंपित हो उठते हैं। उनके च्यवन कल्याणक, जन्म कल्याणक और दीक्षा कल्याणक को भक्तिपरिपूर्ण हृदय से क्रोडों देव और चौसठ इन्द्र भव्यरूप से मनाते हैं। दीक्षा ग्रहण करते ही उनको चौथा मनः पर्यवज्ञान उत्पन्न होता है। घोर तप करते हैं। उग्र विहार करते हैं। कठिन परिषह और भीषण उपसर्गों को समभावपूर्वक बिना व्याकुल हुए सहन करते हैं। और ध्यान में लीन बनते हैं। अंतमें घन-घाति कर्मों का नाश करके केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त करते हैं। इन्द्रगण केवलज्ञान महोत्सव मनाते हैं। समवसरण की रचना करते हैं।

बारह पर्षदा में विराजमान प्रभु चतुर्मुख से मालकोष राग में देशना देते हैं। सब प्राणिगण अपने जातिगत वैर-जहर को भूलकर प्रेमसे उनकी अमृतमयी देशना का पान करते हैं।

इस अमोघ और अमृतमयी देशना का श्रवण करके कितने ही भव्य जीवन में सम्यग्ज्ञान का प्रकाश पाकर चारित्र ग्रहण करके भवसमुद्र से पार होते हैं।

उनमें गणधर बनने योग्य आत्माएँ भी होती हैं। परमात्मा उनको गणधर पद से विभूषित करते हैं और इस प्रकार तीर्थस्थापना, संघस्थापना और गणधर पद की प्रतिष्ठा करते हैं। श्री तीर्थंकरदेव गणधरों के मस्तक पर हाथ रखते हैं। तब बीजबुद्धि के स्वामी गणधर भगवंतों में पूर्वधर की लब्धि प्रगट होती है और ज्ञानावरणीयकर्मका अपूर्व क्षयोपशम होने से गणधर भगवंत अन्तमुहूर्त (दो घड़ी में कुछ न्यून समय में) द्वादशांगी की रचना करने में वे समर्थ होते हैं।

अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गुंथंति गणहरानिउणा।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ ॥

अर्थ का कथन श्री तीर्थंकर देव करते हैं और गणधर भगवंत उस अर्थ का श्रवण करके सूत्र की रचना करते हैं। श्री तीर्थंकर देवों की अपेक्षा से "अर्थ" यह आत्मागम है और गणधर देव की अपेक्षा से "सूत्र" यह आत्मागम है और अर्थ यह अनंतरागम गिना जाता है और उनके शिष्य के लिये अर्थ यह परंपरागम और सूत्र ये अनंतरागम गिना जाता है। जबकि उनके बाद की शिष्य-संतति के लिये सूत्र और अर्थ ये दोनों परंपरागम गिना जाता है। इसीलिये कहा है कि—'आगमस्त्रिविधः आत्मा-नन्तरपरंपरभेदात्'।

प्रभु की वाणी चार अनुयोग में विभक्त है:—

१. द्रव्यानुयोग, २. गणितानुयोग, ३. चरणकरणानुयोग और

४.धर्मकथानुयोग। द्रव्यानुयोगादि की सफलता का आधार चरणकरणानुयोग पर निर्भर है।

आगमग्रंथों की अपूर्व देन

प्रथम एक एक सूत्रमें से चारों अनुयोग निकलते थे। परंतु समय के प्रभाव से मतिमंदता के कारण उन चारों अनुयोगों को महाविद्वान सूरि-पुरंदर श्री आर्यरक्षितसूरीश्वरजी महाराज ने पृथक किये।

दशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं......' आदि एक गाथा पर चारों अनुयोग किस तरह घटाया गया है उसकी प्राचीन प्रत कुछ समय पूर्व ही स्व. गुरुदेव विजयलक्ष्मणसूरीश्वरजी महाराजश्री के हाथ में आयी थी और उन्होंने वह प्रत मुझे दिखलायी थी। एक ही गाथा में द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग, गणितानुयोग और चरणकरणानु-योग ये चारों योग घटाया जा सकता था। इस वस्तु के सुंदर उदाहरण द्वारा विद्वत्ता पूर्ण विवरण देखके पूर्व के महापुरुषों के अगाधज्ञान को देखकर हृदय उनके चरणों में झुक जाता है। इसप्रकार हमारे परमोपकारी परमात्मा ने गंगा के निर्मल प्रवाह की तरह अस्खलित वाणीका प्रवाह बताया है और गणधर भगवंतो ने उस वाणी के प्रवाह को झीलकर उसकी रचना करके वाचना द्वारा शिष्य-प्रशिष्यादि संतति में लगातार प्रवाहित रक्खा है। आज जो कुछ आगमों के दर्शन हो रहे हैं वह परंपरा से आई हुई अमूल्य देन है। जेसलमेर, पाटण, खंभात और लींबडी जैसे स्थानों में ये दीर्घदृष्टा सूरिपुरंदरों ने हस्तलिखित प्रतों में, ताडपत्रों में व्यवस्थित रूपसे सुरक्षित रक्खा। जिसका लाभ आज हम उठा सकते हैं। वर्तमान में भी पू. आग-मोद्धारक जैसे महापुरुषों ने वह वारसा भविष्य की पेढी को बराबर मिलता रहे उसके लिये अगाध प्रयास किया है।

श्रमण भगवान महावीरस्वामी के बाद संवत् ९८० वर्ष के आसपास साधुओं को सूत्र कंठस्थ थे। परंतु समय के प्रभाव से बुद्धिबल में और

स्मरणशक्ति में ह्रास होते चला था। बारह बारह वर्ष के भयंकर दुष्काल पड़े। इस परिस्थिति में अपने दीर्घदृष्टा महापुरुष श्री देवर्धिगणि क्षमा-श्रमण जिनको एक पूर्व का ज्ञान था, उन्होंने वल्लभीपुर (वला सौराष्ट्र) में ५०० श्रमण भगवंतों को एवं सूरि पुंगवों को एक किया। दूसरी तरफ मथुरा में श्री स्कंदिलाचार्य महाराज ने उस तरफ के सूरिपुंगवों को एकत्रित किये और जिनको जितना याद था वह सब व्यवस्थित रूप से ग्रंथस्थ किया और अपने ऊपर असीम उपकार किया है। पूर्वकालीन पूर्वाचार्य सार्वभौम थे। जिससे जहां जहां उनको शंका हुई वहां वहां 'तत्वं तु केवली गम्यं–' कहकर समाधान किया है। सूत्रसिद्धांत के विरुद्ध एक भी शब्द जो बोलते थे उनको संघ के बाहर किया जाता था। इस विषय में जरा भी चलमपोषी नहीं की जाती थी। इस प्रकार अविच्छिन्न प्रणाली का होने से सूत्र-सिद्धांतों में जरा भी गोलमाल नहीं हुआ है।

आज जो आगम ग्रंथ विद्यमान हैं वे जिनेश्वर भगवंत प्ररूपित ही हैं यह निःसंदेह हकीकत है। इसीलिये ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए जैनधर्म के कट्टर द्वेषी श्री हरिभद्रसूरिजी महाराजा एक समय बोल उठे थे कि—

" हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरे।
वपुरेव तवाऽऽचष्टे स्पष्टं मिष्टान्न भोजनम् ॥"

कहकर वीतराग परमात्मा की मूर्ति का मजाक करनेवाले हरिभद्रसूरि महाराजा तत्वरुचि और तत्त्वजिज्ञासु थे।

एक समय उपाश्रय के पास से पसार होते समय एक साध्वीजी के मुख से ध्वनित "चक्की दुग हरि पणग,....." गाथा उनको कर्णगोचर हुई और उस गाथा का अर्थ उनके समझ में नहीं आने से वे उनके गुरू से उस गाथा का अर्थ समझने के लिये जैन मुनि हो गये। जैन धर्म के पार-गामी विद्वान बन गये। फिर भी अपने को "याकिनी महत्तरा सूनु......" के नाम से उल्लेख करते हैं। आखिर में वे महान विद्वान सूरि पुंगव श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज बोल उठते हैं कि :—

कत्थ अम्हारिसा जीवा, दुसम दोस दुसिया।
हा। हा। कणाहा कह हुंतो न जिणागमे॥

दुषम काल के दोष से दूषित ऐसे हमको यदि जिनागम न मिले होते तो हमारी क्या दशा होती ? हम कैसे अनाथ होते।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक :

"श्री भगवतीसूत्र सारसंग्रह" भाग दूसरे के फर्मे विद्वान पंन्यासजी श्री पूर्णानंदविजयजी गणिवर द्वारा मुझे पढ़ने को मिले। जैसे जैसे मैं उन फर्मों को पढ़ता गया मन प्रसन्न हो उठा और हृदय हर्षविभोर बन गया प्रत्येक पृष्ठ का बड़ी सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन किया। उस अवलोकन से पं. श्री पूर्णानंदविजयजी गणि के प्रति मेरे हृदय में बड़ा सद्भाव प्रगट हुआ। ऐसे गहन और गंभीर विषय पर आपने शास्त्रसम्मत खूब विशद और मार्मिक चर्चा की है। प्रत्येक विषय का स्पष्टिकरण लोक भोग्य भाषा में अपनी आगवी शैली से किया है। जिससे विद्वान और सामान्य जन को भी यह ग्रंथ उपयोगी सिद्ध होगा। यह निर्विवाद है।

विषय के स्पष्टिकरण में कहीं भी भाषा का मिथ्या आडंबर नहीं है। बल्कि भाव की चमक है। सूक्ष्म अवलोकन है। विशद विवेचन है। भाषा गंगा के प्रवाह की तरह अत्यंत गंभीर-सौम्य एवं सुन्दर है। विषय को प्रस्तावित करने की अद्‌भुत कला है। जिससे पाठक के हृदय में उत्पन्न शंकाओं का अपने आप निराकरण हो जाता है। पढ़ने से मन प्रसन्न हो उठता है। रसभरी रसवती का स्वाद खानेवाले को जो आनंद देता है। उससे भी अधिकतर आनंद इस ग्रन्थ का पठन-मनन एवं निदिध्यासन से प्राप्त होता है। वाचक बिना कहीं रुके प्रवाहबद्ध आगे-आगे पढ़ता ही जाय और अपने आपमें खो जाय ऐसे अपूर्व आनंद का अनुभव इस ग्रन्थ को पढ़ने से होता है।

ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ, वाक्य एवं शब्द पर हृदय की उर्मी के दर्शन

होते हैं। भाषा की मधुरता से और अलंकारों [illegible] कहीं [illegible] अनोखी [illegible] और [illegible] के [illegible] दर्शन होता है।

'[illegible] और कर [illegible], [illegible]'

यह पंक्ति जब जीवन में [illegible] की तरह [illegible] हो तब ही हृदय की गहराई में से [illegible] प्रगट होता है। [illegible], कठिन एवं दुर्गम विषय का विशद वर्णन करना और [illegible] विषय पर प्रकाश डालना यह तब ही शक्य है जब लेखक को उस विषय का गहरा अनुभव हो, बुद्धि तीक्ष्ण हो, शास्त्रों का तलस्पर्शी ज्ञान हो, [illegible] परिश्रम हो, हृदय में शुद्ध निष्ठा हो, माता सरस्वती की कृपा हो और गुरु की पूर्ण कृपा (आशीर्वाद) हो तब ही लेखक कामयाब होता है। सामान्य लेख लिखना एक अलग चीज है और तत्वज्ञान जैसे जटिल और गंभीर विषय पर और वह भी सिद्धांत के अनुरूप उसके हार्द तक पहुंचना और लोक भोग्य भाषा में उनको उतारना बड़ा ही कठिन एवं जटिल कार्य है। इसीलिये अनुभवीओं ने कहा है :—

" विद्वान एव हि जानाति, विद्वज्जन परिश्रमम्।
नहि वन्ध्या विजानाति, गुर्वी प्रसव वेदनाम्।"

साथ ही सरल स्वभावी पंन्यासजी महाराज ने इस ग्रन्थ के निर्माण में बड़ा घोर परिश्रम किया है। खूब ही विद्वतापूर्ण तलस्पर्शी विवेचन दत्तचित्त होकर किया है। इस विषय के जिज्ञासु महानुभावों को यह ग्रन्थ आशीर्वाद रूप होगा।

जिज्ञासुओं के लिये अति उपयोगी साबित होगा। और जैन-जैनेतर जगत में लोकप्रिय होगा। इतना ही नहीं बल्कि कितने ही आत्माओं के समकित निर्मल बनाने में और श्रद्धा को पक्का करने में महत्त्वपूर्ण कार्य करेगा। तदुपरांत निर्जरा का भी हेतु होगा।

ऐसा सुंदर विश्लेषात्मक द्रव्यानुयोग के निधिस्वरूप ग्रन्थके निर्माण

कारण विद्वान पंन्यासजीश्री हम सबके अभिनंदन के अधिकारी बने हैं। मैं पुनः पुनः उनका अभिनंदन करता हूँ। और उनके पांडित्यकी कद्र करता हूँ।

इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ के निर्माण में वे पूर्ण यशस्वी और सफल हुए हैं। कहीं कहीं आपने लालबत्ती (Red Singnal) भी धरी है। और दुर्गम विषय को शक्य उतना सरल बनाने की कोशिश की है।

करीब दो वर्ष पहले जब भगवतीसूत्र सारसंग्रह का प्रथम भाग आपने मुझे सादर भेंट दिया था उस समय मैंने उपलक दृष्टि से ही उसका अवलोकन किया था। परन्तु जब मुझे दूसरे भाग की प्रस्तावना लिखने का सद्भाग्य प्राप्त हुआ। तब मुझे उसको पढ़ना ही चाहिये तब ही मैं उस पर दो शब्द लिखने की क्षमता रख सकता हूँ दूसरा भाग पढ़ने के बाद मुझे यह भास हुआ कि पहला भाग मैंने नहीं पढ़ा यह ठीक नहीं किया और प्रथम भाग जल्दि पढ़ जाने का इस दूसरे भाग ने उत्तेजित किया।

श्री भगवतीसूत्र और उसकी व्याख्याएं :—

द्वादशाङ्गी में यह भगवतीसूत्र पांचवां अंग है। जिसका मुख्य नाम 'विवाह पन्नत्ती' है। उसके पहिले ४१ शतक और दस हजार उद्देशाए थे। और दो लाख अट्यासी हजार पद थे।

यहां पद याने 'विभक्त्यन्त पदं' नहीं समझना लेकिन यहां एक पद में करीब एक्कावन करोड़ श्लोकों का समावेश होता है। ऐसे दो लाख अट्ठाइस हजार पद हैं। वर्तमान में भी तीन भाग में १२००–१३०० पृष्ठ जितना है। जिसमें लब्धिनिधान श्री गौतमस्वामीजी अन्य साधु-साध्वीजी, श्रावक-श्राविका और अन्य तीर्थिकों के पूछे हुए छत्तीस हजार प्रश्नों का उत्तर भगवान श्री महावीर देव ने अपने श्रीमुख से दिये हैं। जिसमें छत्तीस हजार दफे भगवान महावीर और गौतमस्वामीजी का पुण्य नाम-

ऐसा होने के कारण यह भगवतीसूत्र अनेक मुनिराजों एवं आचार्यों द्वारा
वर्तमान में भी जहां जहां जब जब विशिष्ट मुनिराज और आचार्यगण [illegible]
[illegible] हैं यह [illegible] अतिशय [illegible] [illegible] के
साथ भगवतीसूत्र का श्रवण करते हैं।

श्री भगवतीसूत्र के ऊपर विवेचनात्मक अनेक ग्रंथ प्रकट हुए हैं।
उनमें आगमोद्धारक पूज्य सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज द्वारा प्रकाशित
भगवतीसूत्र [illegible] ग्रंथों का [illegible] के साथ [illegible] है।

परम पूज्य पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजयरामचंद्रसूरीश्वरजी महाराज
द्वारा लिखित भगवतीसूत्र दो भागों में प्रकाशित हुआ है। प्रथम भाग
में मंगलाचरण के लिये एक ही श्लोक पर विस्तार से चर्चा की है।
जबकि दूसरे भाग में नमस्कार मंत्र के साथ [illegible] करने में ही
५०० पृष्ठ पूरे होते हैं। वैसे ही पूज्य विद्वद्वर्य आचार्य श्री विजय-
धर्मसूरीश्वरजी महाराज ने भगवतीसूत्र के ऊपर दिये हुए व्याख्यानों का
एक बड़ा ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। जो तत्त्वज्ञान से परिष्कारित अत्यन्त
रसप्रद एवं साहित्यिक भाषा में लिखा हुआ है।

जबकि विद्वद्वर्य ऋजुस्वभावी पन्यासजी श्री पूर्णानंदविजयजी गणि
(कुमार श्रमण) द्वारा प्रकाशित प्रथम खण्ड में तत्वज्ञान का खजाना ही
उलट देने में आया है। जिसमें पांच शतक के अनेक उद्देशाओं का विशद
एवं विस्तृत विवेचन है।

इस प्रस्तुत दूसरे खण्ड में छट्ठे शतक से ११ वें शतक तक के अनेक
उद्देशाओं के विषय को मद्दे नजर रखकर बड़ा मार्मिक होते हुए भी सरल
भाषा में विवेचन किया गया है। यह एक आकर ग्रंथ जिज्ञासु एवं
तत्त्वपिपासु भव्य आत्माओं के लिये एक आशिर्वाद रूप है।

वास्तव में ये दोनों भाग अत्यंत उपयोगी एवं बोधप्रद हैं इसमें
जरा भी शंका का अवकाश नहीं है।

इसप्रकार की पद्धति का अनुकरण करके आगे के भी भाग लिखे जायेंगे तो वह्रे उपयोगी सिद्ध होंगे ।

भगवतीसूत्र के ११ शतक तक के दो भागों की भेट समाज के आगे रखकर पन्यासजी महाराज ने साहित्य की बड़ी सेवा की है ।

मेरा बार बार आपको आशीर्वाद है कि आप अपने ध्येय को लक्ष्य में रखकर आगे के भाग भी तैयार करें ।

अंत में सभी जीव मननपूर्वक इस ग्रंथ का अभ्यास करके जैन शासन के हार्द को समझें और अपना कल्याण करें यही अभिलाषा ।

(गुजराती का हिन्दी में अनुवाद)

सं. २०२२, जेठ सुदि १३
सांताक्रुझ

पू. गुरुदेव विजयलक्ष्मणसूरि
शिष्याणु कीर्तिचन्द्रसूरि

धेय आने के कारण यह भगवतीसूत्र अत्यंत पूजनीय एवं आदरणीय बना वर्तमान में भी जहां जहां जब-जब विद्वान गुरुदेव श्री भगवतीसूत्र के उपर वाचना देते हैं तब भक्तगण अत्यंत भक्ति एवं आदरपूर्वक विधिविधान के साथ भगवतीसूत्र का श्रवण करते हैं।

श्री भगवतीजीसूत्र के उपर विवेचनात्मक अनेक ग्रंथ प्रकट हुए हैं। उनमें आगमोद्धारक पूज्य सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज द्वारा प्रकाशित भगवतीसूत्र पांडित्यपूर्ण सूत्रों का विशद स्पष्टीकरण के साथ श्रेष्ठ ग्रंथ है।

परम गुरुदेव पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजयलब्धिसूरीश्वरजी महाराज द्वारा लिखित भगवतीसूत्र दो भागों में प्रकाशित हुआ है। प्रथम भाग में मंगलाचरण के सिर्फ एक ही श्लोक पर विस्तार से चर्चा की है। जबकि दूसरे भाग में जयकुंजर हस्ती के साथ बराबरी करने में ही ५०० पृष्ठ पूरे होते हैं। वैसे ही पूज्य विद्वद्वर्य जैनाचार्य श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज ने भगवतीसूत्र के उपर दिये हुए व्याख्यानों का एक बड़ा ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। जो तत्त्वज्ञान से परिप्लावित अत्यन्त रसप्रद एवं साहित्यिक भाषा में लिखा हुआ है।

जबकि विद्वद्वर्य ऋजुस्वभावी पन्यासजी श्री पूर्णानंदविजयजी गणि (कुमार श्रमण) द्वारा प्रकाशित प्रथम खण्ड में तत्त्वज्ञान का खजाना ही उलट देने में आया है। जिसमें पांच शतक के अनेक उद्देशाओं का विशद एवं विस्तृत विवेचन है।

इस प्रस्तुत दूसरे खण्ड में छट्टे शतक से ११ वें शतक तक के अनेक उद्देशाओं के विषय को मद्दे नजर रखकर बड़ा मार्मिक होते हुए भी सरल भाषा में विवेचन किया गया है। यह एक आकर ग्रंथ जिज्ञासु एवं तत्त्वपिपासु भव्य आत्माओं के लिये एक आशिर्वाद रूप है।

वास्तव में ये दोनों भाग अत्यंत उपयोगी एवं बोधप्रद हैं इसमें जरा भी शंका का अवकाश नहीं है।

इसप्रकार की पद्धति का अनुकरण करके आगे के भी भाग लिखे जायेंगे तो बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे।

भगवतीसूत्र के ११ शतक तक के दो भागों की भेट समाज के आगे रखकर पन्यासजी महाराज ने साहित्य की बड़ी सेवा की है।

मेरा बार बार आपको आशीर्वाद है कि आप अपने ध्येय को लक्ष्य में रखकर आगे के भाग भी तैयार करे।

अंत में सभी जीव मननपूर्वक इस ग्रंथ का अभ्यास करके जैन शासन के हार्द को समझे और अपना कल्याण करे यही अभिलाषा।

(गुजराती का हिन्दी में अनुवाद)

सं. २०२३, जेठ सुदि १३
सांताक्रुस

पू. गुरुदेव विजयलक्ष्मणसूरि
शिष्याणु कीर्तिचन्द्रसूरि

द्रव्य सहायक

५१००	भारतनगर जैन संघ ग्रान्ट रोड,
३०००	चुनीलालजी हीराचंदजी बाफना पनवाले
२५००	प्रवीणचंद्र धनजी वीलेपार्ला (वेस्ट)
१५००	मद्रासवाले, एस. जीवनराज जैन
१५००	जतनराज, गुलराज, हीरालाल चीचीया वाणेरावाले.
३५००	सादडीवालो की तरफ से. हस्ते हरखचंदजी सेसमलजी.
७०१	शा. दीपचंदजी मजमलजी राठोड.
५००	चंदनमलजी कस्तुरचंदजी राठोड
५००	विमलचंदजी सागरमलजी राठोड
५००	शा. दौलतराम वनाजी राठोड पण
४००	फूटरमलजी हिंमतमलजी बाफना सादडी
२५१	शा. नगराजजी मेघराजजी बाफना
२५१	शा. विमलचंदजी फूलचंदजी
२५०	सागरमल वीजयचंद
२००	भिकमचंद वछराज

विषयानुक्रमणिका

शतक ७

शतक ८

शतक १०

शतक १०

शुद्धिपत्रक

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
काम अते	काम आते	१४	८
से कर	से	२२	२४
आगति सतद्दि	आगति से सादि	२९	५
की	सिध्द गति की	२९	५
चराचर	०	३१	९
दुःखी से दुखो	दुःखों से दुखी	४२	९
प्रात्या	प्रत्या	४९	४
प्रत्त्या	प्रत्या	४९	५
सहस्त्र	सहस्र	५१	२१
संमूर्हित	संमूर्च्छित	५१	२३
भराहुए	भराहुआ	२९	१०
मुहूत	मुहूर्त	५८	१२
कयाप	कषाय	७१	१५
दुस्ज्य	दुस्त्याज्य	७३	६
से उंचे	उंचे	७४	१३
कमा	कर्मों	७४	१४
प्रत्याख्य	प्रत्याख्यान	१९	६
तिर्यंचों भी सर्व विरति को	तिर्यंचों को भी सर्वविरति	८३	२१
पापकमा	पापकर्मों	८७	२
की वाक्यता	की एक वाक्यता	८७	३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
रोजगार	रोजगार में	९८	११
स्वभि	स्वाभि	१०९	२
भगवान	भगवान ने	११९	२२
शूय	शून्य	१२४	१६
भायख	भाग्य	१२४	२४
सकरणीय	सत्करणीय	१३१	१६
गगित	गति	१३१	२४
पूर्णपर्याप्त	पर्याप्तिपूर्ण	१३९	७
जीत	जीव	१४६	१२
ज्ञान वरणी	ज्ञानावरणीय	१५३	१२
यादा	दान्ता	१५५	९
आज्ञनी	अज्ञानी	१५९	२४
असंयम	संयम	१६०	२२
धन	भाव	१६१	१४
नीर्या	वीर्या	१६४	१९
तलास	तलाश	१९०	२२
हुणद्र	हुणह	२१२	३
दुर्जय	दुर्जेय	२२०	१४
ज्ञान	ज्ञानी	२२९	२०
सांय	सांप	२३४	२४
विडड	विड	२३६	९
संमय	संयम	२३८	३
पर	ऐसा	२३९	२४
गांसडीओं	गांसडिओं को तथा	२५१	१
आत्माने	आत्मा	२६४	१६
१३–१५ वीं लाइन का	०	२८२	१५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
भगाने के लिये तक			
सम्यन्	सम्यग्	२८८	३
आपरणों	आवरणों	२९१	३
मतज्ञान	मतिज्ञान	२९४	१३
क्षयोपम	क्षयोपशम	२९४	१७
देक्रकर	देखकर	३१४	४
उपशाय	उपशम	३२२	१६
हवते	हनते	३३२	१८
पौरप्य	पौरस्त्य	३३७	१
संगुली	अंगुली	३४६	५
रवि	रति	३४८	२५
का परस्पर	द्वारा	३५२	१५
भूमि को	भूमि की	३५३	१६
पूर्वभम	वैभव के	४५३	१७
सेवा हर	से बाहर	३६८	२
जैनयार्थो	जैनाचार्यों	३६८	१८
मर्ग	मार्ग	३८१	२४
आहारक	अनाहार	३९१	१९
सक्षालक	प्रक्षालक	४१०	६
तपा	तया	४११	४
नदन	नंदन	४१२	११
बना	बनाकर	४१२	१४
खादिय	खादिम	४१२	१९
पांच	पात्र	४१४	३
कष्ठ	काष्ठ	४१७	७
न्योग्रोध	न्यग्रोध	४२०	२३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
शाश्वतकं	शाश्वत	४२५	१२
वह	उसका	४३०	४
भून	भून	४३१	७
भरमाया	फरमाया	४४४	८
संगत	संगीत	४८५	११
ऋषभदत्त	ऋषिभद्रफम	४५८	१
थिरस्कार	तिरस्कार	४५५	१७
क्षेत्र	क्षेत्रों से भरत	४६१	९
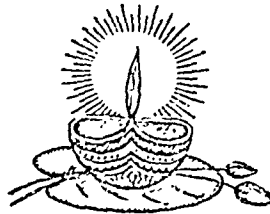
लेखक के वाफना कुटुंब का परिचय

भारत देश के राजस्थान प्रांत में, अरवली पहाड़ की तलेटी तथा राणकपुर महातीर्थ की छत्रछाया में पाली जिलान्तर्गत "सादड़ी" नाम का शहर है। उसमें वडावास अपने ढंग से निराला वास हैं। जिसमें 'डुंगाजी वाफना' का कुटुंब दयालु, दानी सत्यप्रेमी तथा सात्विक था! उनके दो पुत्र थे (१) जेकाजी (२) भेराजी।

उसमें से जेकाजी के सखाजी, डोवरजी, रामचन्द्रजी, नेमीचंदजी तथा चन्द्रभाणजी नाम के पांच पुत्र थे! डोवरजी के दो पुत्र चन्दनमलजी तथा हीराचंदजी। हीराचंदजी के पुत्र चुनीलालजी वाफना जो अपने पुरुषार्थ तथा सात्विक जीवन से पेण (कुलाबा) के प्रतिष्ठित नागरिक हैं। रामचन्दजी के पुत्र का नाम देवराजजी है। तथा नेमीचंदजी के भभूतमल, दलीचंद, पुखराज तथा फूटरमल ये चार पुत्र थे! उसमें से पुखराजने आज से ४२ वर्ष पूर्व, छोटी उम्र में ही शासनदीपक मुनिराज के चरणों में करांची (सिंध) में दीक्षित हुए, न्याय व्याकरण काव्य कोष तथा आगम शास्त्र के ठोस अभ्यासी वनने पाये! और पूर्णानन्दविजयजी (कुमारश्रमण) के नाम से प्रसिध्द हुए, जो इस ग्रन्थ के लेखक हैं।

भभूतमलजी के मांगीलाल तथा जोधराज दो पुत्र हैं। फूटरमलजी के पुत्र का नाम जयंतीलाल वाफना है।

भेराजी के पुत्र मूलचन्दजी उनके पुत्र करमचंदजी वाफना हैं। करमचंदजी के तीन पुत्र हमीरमल, फतेचंद तथा कपूरचंद। उसमें से फतेचन्दजी दीक्षित, शिक्षित हुए और जैनाचार्य श्री विजयहींकारसूरिजी के नाम से प्रसिध्द है। आप श्री व्याख्याता होने पर भी तपस्वी है।

कपूरचंदजी अच्छे तथा सात्विक व्यापारी है। हमीरमलजी बम्बई के सोने चांदी के व्यापार में प्रसिध्द हैं। जूदे जूदे स्थलोंपर सिध्दचक्र पूजन शान्ति स्नात्र संघयात्रा, तपस्वीओं के पारणे उपरांत स्वामी भाईओं के भी सहायक रहे है।

आज इस प्रस्तुत ग्रन्थ की २५० नकले श्रीमान चुनीलालजी वाफना ने अपने पूज्य पिताजी की पुण्य स्मृति में ली हैं एतदर्थ उनको तथा पू. पंन्यासजी के द्रव्य कुटुंब को धन्यवाद.

२०३५ आसो पूर्णिमा —प्रकाशक

वंश--परिचय

- डुंगाजी बाफना
  - जेकाजी
    - सखाजी
      - ०
    - खेवरजी
      - चंदनमलजी
      - हीराचंदजी
        - चुन्नीलालजी
    - रामचन्द्रजी
      - देवराजजी
    - नेमिचंदजी
      - भभूतमलजी
        - मांगीलालजी
      - दलीचंदजी
        - जीवतराजजी
      - *पुखराजजी
      - फूटरमलजी
        - जयंतीलाल
    - चंदरभाणजी
      - •
  - भेराजी
    - मूलचन्दजी
      - करमचंदजी
        - हमीरमलजी
        - †फतेहचंदजी
        - कपूरचंदजी

*(वर्तमान में प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक पं. श्री पूर्णानंदविजयजी (कुमार श्रमण)
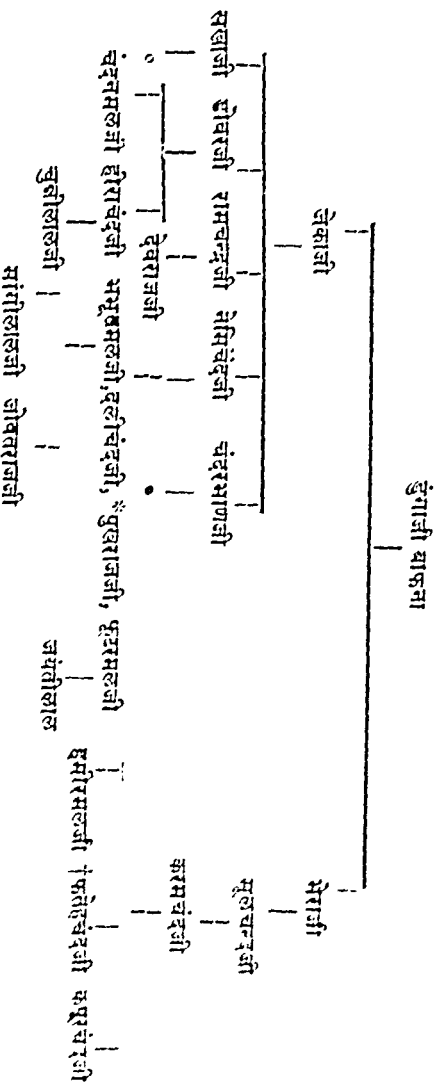
†वर्तमान में ह्रींकारसूरीश्वरजी

॥ श्री ॥

ॐ ह्रीँ अर्हं नमः

श्री विजयधर्मसूरीश्वर गुरुदेवाय नमः

॥ श्री भगवतीसूत्र सारसंग्रह ॥

[भाग २]

शतक ६ उद्देशक—१.

वेदना, निर्जरा और करण :

इस उद्देशक में वेदना निर्जरा और करण आदि का वर्णन है। सार यह है :—

जो जीव महावेदना वाला हो वह महानिर्जरावाला होता है और जो महानिर्जरावाला हो, वह महावेदनावाला होता है। इसमें जो जीव प्रशस्त निर्जरावाला हो, वह उत्तम है।

छठी और सातवीं पृथ्वी में नैरयिकों अर्थात् नर्क के जीव बहुत वेदना वाले होते हैं तथा श्रमण निर्ग्रन्थो की अपेक्षा से अधिक निर्जरावाले नहीं होते हैं। ❁१

❁१ भगवतीसूत्र का यह छठा शतक प्रारंभ होता है जिसमे १० उद्देशक है। जगत के जीवों को सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो; इसलिये गणधर श्री गौतमस्वामी के पूछे गये प्रश्नों के जवाब भगवान श्री महावीर स्वामी स्वयं अपने मुख से फरमाते हैं। प्रश्न इस तरह है :—

(१) क्या जो महावेदना भुगतने वाला हो, वह महानिर्जरावाला होता है ?

(२) जो महानिर्जरावाला हो, वह महावेदनावाला होता है ?

(३) महावेदना और अल्प वेदना के स्वामी में से जो प्रशस्त निर्जरा-वाला हो क्या वह उत्तम है ?

जीव स्वयं के किये हुए कर्मों के कारण रोग, शोक, संताप तथा आधि व्याधि और उपाधियों की भयंकर से भयंकर वेदना भुगतते हैं वे महावेदना वाले कहलाते हैं जिसमे निर्जरा की अल्पता और अतिअल्पता भी हो सकती है और तीव्र वेदना भी हो सकती है।

स्वयं की आत्म शक्ति के द्वारा कर्मों को विशेष प्रकार से क्षय करने वाला महानिर्जरक कहलाता है अर्थात् यहाँ वेदना की अल्पता भी संभावित हो सकती है और तीव्रता भी हो सकती है। जहाँ महावेदना हो वहाँ महानिर्जरा भी होती है। यह प्रश्नों का सारांश है।

अत्यन्त दुर्भेद्य कर्मों की बेड़ी मे फंसे हुए जीवात्मा को अति तीव्रतम मिथ्यात्व का उदयकाल चालू रहने से उसके प्रत्येक प्रदेश में मर्यादातीत मोहवासना का प्राचुर्य होता है। जिससे आत्मा के प्रदेशों में जीवन के अन्तिम सांस तक क्रोध, मान, माया, लोभ की प्रगाढ़ अवस्था बनी रहती है। उसी से जीवात्मा के अध्यवसाय मानसिक परिणाम बहुत ही क्रूर, निर्दयी, हिंसक और निर्ध्वंस होते हैं। स्वार्थान्धता के कारण उसकी लेश्याओं में कृष्ण लेश्या अधिक मात्रा में होती है। ज्ञान और विवेक के दीपक करीब करीब बुझ गये होते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह जीव जो क्रिया करता है उस में पूर्ण रूप से तल्लीन होने से उसको आगे-पीछे का लेशमात्र भी ध्यान नहीं रहता है। ऐसा मिथ्यात्वी जीव वैर के जहर में ज्ञानरहित बनकर निर्दयता से दूसरों की हत्या करेगा। मुझे झूठ बोलने से दूसरों को बहुत नुकसान होगा, भूखा मरना पड़ेगा तथा बेमौत मरना पड़ेगा उसकी भी उसको बिल्कुल परवाह नहीं रहती है।

चोरी करनेवालों में भी कितने ही तो महाक्रूर और निर्दयी होते हैं।

एक गांव में से छः मनुष्य चोरी करने निकले हैं। सभी का इरादा चोरी करने का है, यह सत्य है, परन्तु सभी के मन के परिणाम समान नहीं होते हैं। उसमें से एक कहता है कि अपन सब गांव के चारों ओर सूखे कांटे, घास, लकड़ी आदि रखकर आग लगादें जिससे कोई बच नहीं सके और सभी का धन ले जाय और जो श्रीमंत बच गये हो उनके घर जाकर उनके बाल बच्चों, स्त्रियों और वृद्धों को बंदूक की गोली से मार डालें और उसका सर्वस्व लूट ले तथा जवान स्त्रियों को उठा ले जायें।

इस तरह इस भाई के विचारों में अत्यन्त क्रूरता और निर्दयता भरी हुई है। उसकी यह क्रूरता कितने ही जीवों की हत्या करेगी, मूक प्राणियों को मारेगी और स्त्रियों के ऊपर बलात्कार करेगी।

स्वयं के आनंद के कारण चोरी करनेवाले के इरादे हजारों लाखों और करोड़ों जीवों के साथ मे भयंकर से भयंकर वैर बांधने के कारण बनते हैं, क्योंकि किसी भी निमित्त से मरनेवाला जीव मारनेवाले का कट्टर वैरी बनता है और यह वैर की परम्परा कितने ही काल तक सतत् बनी रहती है।

मैथुन करने में आसक्त जीव के परिणाम भी देखने लायक होते हैं। वे सोचते है मेरे पास अत्यधिक धन है, सत्ता है, मै जवान हूँ, रूपवान हूँ ईश्वर ने मुझे भोग का आनंद लेने के लिये ही जन्म दिया है। मैं भोग में मस्त बनकर स्त्री को बीमारी या दूसरे दुःखों की भी लेशमात्र परवाह नहीं करूंगा। एक मरेगी तो दूसरी तथा तीसरी शादी कर लूंगा। मेरे लिये स्त्रियों की कमी नहीं है क्यों कि भोग का आनंद लेने के लिये ही मैं जन्मा हूँ।

स्त्री के शरीर की सुंदरता कायम रखने के लिये गर्भ हत्या करनी हो तो भी यह मेरे लिये असंभव नहीं है। बच्चे को भी शीशी के दुध पर रख लूंगा परन्तु स्त्री की जवानी तथा स्तनों की कठिनता–सुंदरता हमेशा बनी

करनी चाहिए। मैथुन में आसक्त जीव किसी बात की परवाह नहीं करता है अभी तो पहला बच्चा मां का स्तनपान कर ही रहा है तो भी वह स्त्री संभोग में लीन बनकर वापस गर्भधारण करायेगा और मांस, अंडे, शराब आदि अभक्ष्य भोजन का सेवन करेगा और बच्चों का भविष्य बिगाड़ेगा।

इस तरह जीव मैथुन कर्म में अन्धा बनकर आरोग्य, जीवन, स्वयं की संतान, स्त्री और अन्त में सभी सत्कर्मों का नाश करने के लिए तैयार हो जाता है।

जो मनुष्य परिग्रह को बढ़ाने में अंधा बना हुआ है उसके पास मानवता का लेशमात्र भी अंश नहीं रहता है। कहा है कि—"लोभाविष्टो नरो हंति मातरं पितरं तथा" लोभ में आसक्त बना हुआ मनुष्य माता-पिता की हत्या करते हुए भी हिचकिचाता नहीं है। संपूर्ण जीवन मोहराजा के साम्राज्य में समाप्त करता है और तीव्रतम कर्मों का उपार्जन करता है। ऐसे जीवों को स्वयं के कर्मों का फल कभी कभी तो दस गुना, सौ गुना, हजार गुना तथा करोड़ों गुना से भी अधिक भुगतना पड़ता है। उस समय उनके कर्मों की निर्जरा बहुत ही अल्प होती है।

इसलिए जिस जीवात्मा ने अत्यंन्त मलिन भाव से कर्मों का बंधन किया है वे कर्म इतने प्रगाढ़ और चिकने होते हैं कि उनको भुगतनेपर भी नाश नहीं होते हैं। जिस प्रकार रेशम की डोरी में दो चार गांठ लगाकर उसके दोनों सिरों को जोर से खींचकर तेल तथा गन्दे कीचड़ में डालकर उसको सुखा दे फिर इन गांठों को खोलने में बहुत प्रयत्न करे तो भी वे खुलनी कठिन लगती है उसी प्रकार प्रगाढ़ तथा चिकने बंधाये हुए कर्म बहुत मुश्किल से भी नाश नहीं होते हैं।

हलवाई या तेली के कपड़े इतने गन्दे हो जाते हैं कि उनको स्वच्छ करने के लिए सनलाइट की बट्टी भी काम नहीं आती है। कपड़ा फट जायगा परन्तु साफ नहीं होगा। उसी तरह महामिथ्यात्व से बंधे हुए कर्म भी उतने ही चिकने होते हैं।

(१) मिथ्यात्व के गहरे रंग में रंगे हुए जीव के हिंसक परिणाम भी महाक्रूर होते हैं।

(२) असत्य व्यवहार—व्यापार में भी वे निर्दयी होते हैं।

(३) चोरी का काम भी हमेशा दूसरों को हानि पहुंचाने वाला ही होता है।

(४) मैथुन कर्म भूंड और गर्दभ से भी बहुत भयंकर होता है।

(५) परिग्रह कर्म में राक्षस की तरह निर्ध्वन्स परिणाम होते हैं।

(६) क्रोध असुरों की तरह सत्यानाशी होता है।

(७) मान अजगर की तरह सर्वथा भयंकर होता है।

(८) माया काली नागिन की तरह अत्यन्त विकराल होती हैं।

(९) लोभ की मात्रा जंगल के दावानल की तरह महाभयंकर होती है।

(१०) राग और द्वेष का मालिक शहद की कटोरी में पड़ी हुई मक्खी की तरह संपूर्ण जिन्दगी तक इतना पागल बन जाता है कि उसकी रागान्धता तथा द्वेषान्धता जीवन के अन्तिम श्वास तक मिटती नहीं है।

रागी मनुष्य साधु का स्वांग कर सकता है परन्तु रागवृत्ति को नहीं छोड़ सकता है और छोड़ने का प्रयत्न भी नहीं करता है। द्वेषी मनुष्य की तो बात ही मत पूछो? तुमने द्वेषी मनुष्यों को कभी देखा है? वे सात लाख स्थान में रहे हुए पृथ्वीकाय के जीवों को तो मिच्छामि दुक्कड़म् देने को तो तैयार रहेंगे परन्तु धन और विषय-वासना के लोभ में स्वयं के पिता, पुत्र, भाई, माता, सासु, जेठानी, देराणी, पड़ोसी आदि को मिच्छामि दुक्कड़ नहीं दे सकते हैं। इस प्रकार चुगली करनी, कलह करना, माया-मृषावाद का सेवन करना आदि पाप भी उतने ही तीव्र होते हैं।

एक सेठ के चार पुत्र थे और चारों को चार कुलवधुएं थीं। एक समय सबसे छोटी पुत्रवधु का सात दिनों के लिए रसोई बनाने की बारी आई। छोटी बहु बहुत स्वरूपवान थी तथा थोड़ी पढ़ी-लिखी थी। वह अपने

को बहुत होशियार समझती थी। उसकी वाणी में कड़वाहट थी तथा हाथ में कृपणता का वास था, मस्तक में गर्व ने निवास किया था। हृदय में तुच्छता थी तथा पेट में छिछलापन था। एक दिन उसने सासु, ननंद तथा जेठानी के साथ बहुत ही अभद्र व्यवहार किया तथा बाद में रसोई बनाकर निवृत्त हुई। उस समय उसके मन में यह विचार आया कि आज मेरे हाथों की बनाई हुई रसोई खाकर जेठानी का गर्व चूर चूर हो जायगा, सासु और ननंद का बोलना बन्द हो जायगा और ससुरजी तथा जेठजी तो मेरी प्रशंसा करेंगे। यह सोचती हुई उसने भोजन की परीक्षा करने के लिए सब्जी का थोड़ा सा अंश अपनी जीभ पर रखा। जीभपर रखते ही थू-थू करने लगी क्योंकि सब्जी भयंकर कड़वी थी तथा वह समझ गई की सब्जी कड़वी तुम्बी की बनी हुई है पर अब क्या करना चाहिए? उस साग को फेंकने में कुछ बिगड़नेवाला नहीं था परन्तु मन की मलिनता तथा जीवन में गर्व की मात्रा अधिक होने से उसके मन में ये विचार उत्पन्न हुए :-

(१) यह सब्जी को सब खायेंगे तो मृत्यु की शरण में जायेंगे जो मुझे पसन्द नहीं है।

(२) सब्जी को फेंक देने में जेठानी का मजाक तथा ननंद का उपालंभ सहन करना पड़ेगा वह मेरे स्वभाव के विरुद्ध है।

(३) घी, हींग जीरा मसाला आदि की हानी होने से पति के व्यंग वचन सहन करने पड़ेगे।

(४) मेरी जानकारी तथा होशियारी पर पानी फिर जायेगा और मेरी पोल खुल जायेगी।

इसप्रकार आर्तध्यान में लीन बनी हुई वह विचार करती है कि कोई तपस्वी मुनिराज यहां पधारे तो उनको यह सब्जी वहोरा दूं जिससे मेरी धर्मिष्ठता की प्रसंशा होगी, लोग भी प्रसंशा करेंगे तथा जेठानी से भी मेरी इज्जत ज्यादा बढ़ जायेगी।

ऐसे अति तीव्र अज्ञान के अन्धकार में वह स्त्री डूबी हुई है संयोग से उसी समय मासक्षमण के तपस्वी मुनिराज पारणे के लिए वहाँ पधारते है तथा वह स्त्री उस कड़वी तुंबड़ी के साग को वहोरा देती है। स्वयंकी भूल छिपाने के खातिर साधु के प्राण लेने में भी उस स्त्री को लेशमात्र भी दया नहीं आई। साधु तो उस साग को खाकर अपने कर्मों की निर्जरा करते हुए मोक्ष में पधारते है। परन्तु उस नारी के मलिन अध्यवसाय आगे बढ़ते जाते हैं और भयंकर से भयंकर निकाचित कर्मो का बंध करती है। फलस्वरुप द्वादशांगी आगम में भी इस बात की साक्षी देते हुए कहते है "इस स्त्री का जीव एक-एक नरक में दो-दो बार गया, सातों नरक में चौदह बार गया तो भी उसके कर्मों की निर्जरा जैसी होनी चाहिए थी नहीं हुई और कितनी ही बार तिर्यन्च योनियों में जन्म लेकर भारी दुःख भुगत चुकी है"।

परदेश में बहुत धन कमाकर दोनों भाई अपने देश में आये और एक जगह जमीन में धन गाड़ दिया। बाद में दोनों भाईयों की लेश्या में मलिनता आ गई और धन को हड़पने की भावना उत्पन्न हो गई और गाडे हुए धन के स्थान पर दोनों भाई डंडे से घमासान रुप लड़े तथा बेमौत मर गये। इस तरह नौ भव तक हिंसक योनी में जन्म लेकर मारपीट में भव पूर्ण किये और धन तो अपनी जगह पर ही रहा।

संपूर्ण जीवनभर सत्य बोलनेवाले वसुराजा को सिर्फ एकबार झूठी साक्षी देनी पड़ी क्योंकि संयोग से उस समय उनका विवेक रुपी दीपक बुझ जाने से उनको इतना भी विचार नहीं आया कि–"मैं सत्ताधारी और प्रभावशाली हूँ। मेरा एक-एक वचन अमूल्य होता है। मेरे से दाक्षिण्य-तावश ऐसी साक्षी देने पर संसार के मांसाहारी लोग इस बात को प्रमाण मानकर लम्बे समय तक असंख्य बकरे, पाड़े, कुकडे आदि जानवरों की हत्या करेंगे" हुआ भी ऐसा ही कि वसुराजा की झुठी साक्षी से जानवरों को देवी के समक्ष कत्ल करने में आता है यह जानवरों की कत्ल की प्रथा

करोड़ों वर्षों से आज तक चालू है इसप्रकार सिर्फ एकबार असत्य बोलने मात्र से वसु राजा को नरक में भयंकर वेदना भुगतनी पड़ रही है।

कुमारी अवस्था में कन्या तत्त्व के संरक्षण में सावधानी नहीं रखने से श्रीमंत की पुत्री रेवती ससुराल आने के बाद भी अपने सत्य और सदाचार धर्म को टीका नहीं सकती है। उसका पति शतक व्रतधारी होने से स्वयं की १३ स्त्रियों के साथ की मर्यादा पालने में रेवती का नम्बर १२ दिन बाद में आता था। ऐसी मर्यादा पालने में उसका पति सक्षम था उसी प्रकार रेवती को छोड़कर दूसरी १२ स्त्रीयां सत्य सदाचार और शील को ही स्वयं का धन और सर्वस्व समझनेवाली होने से उन्हें पति के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव उत्पन्न नहीं हुआ। जबकि रेवती को स्वयं के पति की इस शील सम्बंधी मर्यादा असह्य लगती थी जिससे उसके मानसिक परिणाम दिन प्रतिदिन बिगड़ते चले गये। ऐसे मलिन और हिंसक विचारों को रोकने की एक भी आत्मिक शक्ति उसमें नहीं होने से उच्च कुल में जन्म होने पर भी उसके विचारों में परिवर्तन आया। वह इस प्रकार है :—

"मैं श्रीमंत की पुत्री हूँ। दहेज में भी अगनित धन राशि लाई हूँ तो भी मेरे लिए बारा? पुरुष रोज मैथुन का सेवन करता है और स्त्री को जबरदस्ती शील पालना है? यह कहां का न्याय? मेरा पति मेरी माने या न माने परन्तु मेरे को तो अपना रास्ता सरल कर लेना चाहिए। "इस प्रकार दुर्ध्यान बढ़ता ही गया, रोम रोम में हिंसक भावना उछाला मारने लगी जैसा भी हो किसी तरह मुझे मेरी सभी सौत को यम के द्वार पर पहुँचा देनी चाहिए और मेरा मार्ग सरल बनाना चाहिए। संयोगवश एक दिन चारों स्त्रियों को उपवास के पारणे पर अपने यहां निमंत्रण देती है। पारणेकी सभी वस्तुओं में विष मिलाकर उनको पारणा कराती है जिससे चारों मृत्यु के शरण हो जाती हैं। बाकी आठ स्त्रियों को भी मार डालने में अपने पिता के घर से अत्यन्त गुप्त रूप से गुंडो को बुलाकर आठों सौत को घातक रूप से मरवा डालती है।

मैथुन कर्म में अत्यन्त आसक्त बनी हुई रेवती ने केवल स्वयं के वैषयिक सुख की तृप्ति के लिए अपनी सौतों को इस रीतसे मार डालने पर स्वच्छन्द बनी हुई रेवती का जीवन अत्यन्त कलुषित और मर्यादाहीन बन जाता है। एक पाप दूसरे पाप को आमंत्रण देता है, उस तरह रेवती के जीवन में शराब तथा मांसाहार आदि दुर्गुण भी उसमें आ गये तथा अन्त में मरकर नरक की मेहमान बनी।

परिग्रह बढ़ाने में अत्यन्त लोभी मनुष्यों के दृष्टान्त शास्त्रो में परिपूर्ण रूप से विद्यमान है। काले कामों को करनेवाला धवल सेठ, मक्खीचूस मम्मण सेठ, राज्य सत्ता के दुरुपयोग में ही धर्म माननेवाला दुर्योधन, संपूर्ण जीन्दगी तक दूसरों को लूटने में, उनके राज्यों पर अधिकार करने में, नयी नयी स्त्रियों के साथ शादी करके उनके साथ भोग विलास में जले मस्त बनकर अत्यन्त रौद्र-ध्यान में अपना जीवन व्यतीत करनेवाले सु-भूम तथा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती भी नरक के अतिथि बने।

मनुष्य लोक में जन्में हुए ऐसे मनुष्यों को भी हम देखते हैं कि जिसका शरीर ऐसे भयंकर रोगों से ग्रसित होता है कि जिसको देखने मात्र से ही अपने को दया आ जाती है। असाध्य रोगों से पीड़ित होकर वर्षोंतक तड़फते, रोते, रुलाते तथा भूखे मरते हुए बेमौत मरते हैं। मरते-मरते भी अपने जीवन में रहे हुए अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया तथा लोभ को छोड़ नहीं सकते हैं।

फलस्वरूप नर्क में गये बाद भी परमाधामीयों की असह्य वेदनाओं तथा अत्यधिक मार को सहन करते हैं। यमदुत के डंडे खाते हुए अपना जीवन पूर्ण करते हैं। इस लिए प्रश्नोतर का सरल अर्थ यह है किये कहुए कर्मो के फलरूप महावेदना भुगतते हुए भी जीव महानिर्जरा का मालिक नहीं बनता है, और बनता भी है।

छठवीं और सातवीं नरक भूमिओं में रहनेवाले जीवों को महावेदना

है परन्तु महानिर्जरा नहीं है। उसीप्रकार महानिर्जरा करते हुए जीव को महा-वेदना होती है और नहीं भी होती है।

गजसुकुमाल, खंधक मुनि, घाणी में पिलाते हुए खंधक मुनि के पांच सौ शिष्य, मेतारज मुनि, तथा महावीरस्वामी स्वयं भी महावेदना भुगतते हुए भी महानिर्जरा के मालिक बने हैं जब कि चंदनबाला, राजीमति, मरुदेवी माता जैसे भाग्यशाली जीव स्वयं के जीवन में अल्प वेदना ही भुगती है तो भी कर्मों को जड़ में से उखाड़कर केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी का वरण किया है जो प्रशस्त निर्जरा है।

पूर्वभव के कर्मों की सत्ता अत्यन्त विचित्र होने से तथा वर्तमान भव की राग-द्वेष-मोह-वासना तथा माया प्रपंच की भावना भी विचित्र होने के कारण मनुष्य मात्र के अध्यवसाय में तीव्रता-तीव्रतरता और तीव्रतमता होती है। साधन अलग-२ होने से कर्मों के बंधन में तथा उदय में भी अन्तर पड़ता है जिससे किसी कर्म के उदयकाल में वेदना बहुत होती है परन्तु आत्मा की शक्ति दबजाने के कारण कर्मों की निर्जरा बहुत ही अल्प होती है।

किसी कर्मों के उदय में वेदना अत्यधिक भुगतनी पड़ती है तथा साथ-साथ आत्मजागृति संयम आराधना तथा ज्ञान मात्रा प्रचुर होने से कर्मों की निर्जरा भी बहुत होती है।

इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी ने फरमाया और साधक स्वयं के कर्मों की निर्जरार्थ विशेष प्रकार से साधना में सावधान बने।

करण चार प्रकार के होते हैं-मनकरण, वचन करण, काय करण और कर्म करण।

जीव और करण :

नैरयिकों को और पंचेन्द्रिय जीवों को चार प्रकार के करण होते हैं।

एकेन्द्रिय जीवों को दो करण होते हैं- काय करण और कर्म करण विकलेन्द्रियों को वचन, काय और कर्म ये तीन करण होते हैं।

नैरयिक, अपने करण से अशाता वेदन को वेदते या भुगतते हैं। असुर कुमार, अपने करण से शाता-वेदना का अनुभव करते हैं। इन असुरकुमारों को चार प्रकार के करण होते हैं।

इसी तरह यावत् स्तनितकुमार तक ही भुवनपति के लिए जानना।

विशेषता यह है कि शुभाशुभ करण होने से पृथ्वीकाय के जीव शायद सुख-रूप और दुःखरूप वेदना का अनुभव करते हैं परन्तु करण के बिना तो अनुभव कर ही नहीं सकते हैं ※-२

※-२ किसी भी वृक्ष के पत्तों को हम जब ऊपर से देखते हैं तो वह एक समान लगते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने में आवे तो वृक्ष का एक भी पत्ता दूसरे पत्ते जैसा नहीं होता है। थोड़ा बहुत तो फर्क होता है। उसीप्रकार कर्म सत्ता के जाल में फंसे हुए जीव भी एक दूसरे से अलग होते हैं। क्योंकि जीवमात्र के कर्म अलग-अलग होते हैं। जिससे उसके फलों में भी अन्तर रहेगा ही। शरीर की दृष्टि से थोड़े बहुत मिलते हों तो भी भिन्नता तो रहेगी ही। स्वभाव में भी अन्तर जरूर मिलेगा। स्वभाव में एकता होगी तो शरीर के अंगोपांग में भिन्नता देखने को मिलेगी। दो जीवों की आंख समान होगी तो नाक में फर्क होगा, वजन और लम्बाई समान होगी तो रंगरूप में भिन्नता होगी।

इसप्रकार एक दूसरे से सर्वथा अलग अनंतानंत जीवों की सृष्टि हम प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं इसका कारण केवल कर्म की विचित्रता ही है।

भवभवांतर में मोहवासना के वश में फंसकर जैसे-२ कर्मों का उपार्जन किया होता है उसका उदय भी उसीप्रकार से होने के कारण प्रत्येक जीवों की शक्ति अलग-अलग होती है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय के अनंतानंत स्थावर जीवों को जिह्वेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय के आवरण होने से उन जीवों को जीभ, नाक, आंख और कान इन्द्रियों का सर्वथा अभाव होता है। जबकि संसार में बहुत कम जीवों को जीभ, नाक, आंख और कान इन्द्रियों की पूर्णता नजर आती है जिसमें

भी किसी को मन नहीं मिलता और किसी को विचारशक्ति का अभाव होता है। किसी को कान और आंख मिले हैं तो पंचेन्द्रिय होते हुए भी गूंगा बनकर अवतरित हुआ है। शुभाशुभ कर्मों के उदयकाल में सुख तथा दुःख भुगतने के लिए उत्कृष्टतम साधन या 'करणों' की प्राप्ति सभी जीवों को अलग-अलग होती है।

पूर्वभव के पुण्य तथा पाप के कारणों से जीवात्मा को इस भव में सुख और दुःख तो भुगतने ही हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि सुख और दुःख यह जीव किन साधनों द्वारा भुगतेगा? क्यों कि आत्मा स्वयं अमूर्त (आकार-रहित) है।

संसार के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानने वाले तथा उसी प्रकार से कहने वाले यथार्थवादी भगवान महावीर स्वामी ने कहा है—जीवों को सुख दुःख भुगतने के लिए चार करण होते हैं—(१) मन करण (२) वचन करण (३) शरीर करण और (४) कर्म करण। इन कर्मों के कारण से ही सूक्ष्म निगोद के जीव से लगाकर इन्द्र, चक्रवर्ती और तीर्थंकर भी सुख दुःख के भोक्ता बनते हैं। कहा है :-

"यत्र यत्र कर्मणां कर्तृत्वं तत्र कर्मणां भोक्तृत्वमपि अस्त्येव" अत्यन्त पापकर्मी पृथ्वीकाय, अपकाय, अग्निकाय, वायुकाय तथा वनस्पतिकाय के जीवों को चार करण में से केवल काय करण और कर्म करण ही होते हैं। दूसरे करण मन करण और वचन करण तो अनंतानंत जीवों के नहीं होता है. इसी कारण से स्वयं की असह्य वेदना को जीभ के अभाव में किसी को कह भी नहीं सकते हैं। मन करण के अभाव में मानसिक विचार भी उनके पास नहीं होते हैं। इस प्रकार स्वयं के कर्मों के कारण हमेशा अस्पष्ट वेदना को भुगतते हुए उन जीवों को बहुत लम्बे समय तक वहां ही रहने का होता है।

बेइंद्रिय, तेइंद्रिय और चउरिन्द्रिय जीवों को निकृष्टतम पाप के उदय से मनःकरण का अभाव होने से बाकि के तीन करणों से प्रायः करके

अशुभ कर्म ही भुगतने होते हैं।

नरकभूमि में सभी जीवों को ये चार करण अशुभ कर्म भुगतने के लिए ही होते है जबकि औदारिक शरीर को धारण करनेवाले सभी मनुष्यों और तिर्यन्चों को ये चारों करण प्रायः शुभ तथा अशुभ फलों को भुगतने के लिए होते हैं।

कितने ही जीव शरीर करण द्वारा दुःख भुगतनेवाले होते हैं तब शरीर, हड्डियें, चमड़ी, दांत, आँख, नाक तथा रक्त के असह्य रोगों से पीड़ित वें मनुष्य अवतार में भी असह्य वेदना को भुगतते हैं। मनःकरण के द्वारा भयंकर से भयंकर मानसिक वेदना को भुगतते हुए बहुत से धनवान और सत्ताधारी को आपने देखा है? जानते हो? तिजोरी में अगणित धन तथा अशर्फिये उछाला मार रही हो तो भी उनको मानसिक रोग ऐसे लागू पड़ जाते हैं कि जिससे :-

१. दिन और रात का अधिक समय चिन्ता में ही व्यतीत होता है।

२. मानसिक पीड़ा रुपी सन्निपात में ही खाने को बैठते है परन्तु खाना अच्छा नहीं लगता है, प्यास लगती है, परन्तु पानी उनके गले में मुस्किल से उतरता है।

३. घर में चूहे धमाल करते हैं तो भी इन्कमटॅक्स के ऑफिसरों के विचार में अथवा दिल्ली दरबार के आफिसरों की याद के कारण वे बेचारे सुख से सो भी नहीं सकते है। पत्नी क साथ बराबर बात भी कर नहीं सकते हैं, एक पल में मद्रास तो दूसरी पल कलकत्ता भागते रहते है, तीसरे पल सभी बंधनो से छुटकारा पाने के लिए वासक्षेप डलाने महाराज की शरण में जाते है कभी महुडी घंटाकर्ण की आराधना करते हुए दिखाई देते है तो कभी नाकोड़ा भेरुजी की शरण में जाते हैं।

४. मानसिक व्यथा जब मर्यादारहित हो जाती है तब उसमें से उत्पन्न हुए रोगों के कारण से श्रीमंत और सत्ताधारी केवल दलिये की खिचड़ी को भी नहीं पचा सकते हैं।

जबकि 'मनःकरण' के द्वारा शुभ फल भुगतना होता है तो गरीबी में जन्मे हुए तथा सूखी रोटी खाते हुए भी स्वयं के बच्चों के साथ आनंदपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं।

इस प्रकार करण के माध्यम से ही जीव सुख दुःख भुगतता है इसलिए 'भोगायतनं शरीरस्य' अर्थात शरीर ही कर्मों को भुगतने का साधन है। इतना ध्यान रखना है कि ये करण जड़ होने से स्वयं सुख या दुःख नहीं है परन्तु कर्म फलों को भुगतने के साधन हैं।

कर्म करण की विद्यमानता में ही पहले के तीन करण भी विद्यमान होते हैं। ये 'कर्म करण' नये कर्मों के बंधन में काम आते हैं इसलिए मनुष्य अवतार मिलने के बाद इस जीव के संत समागम और आत्मोन्नति लिए पुरुषार्थ बल नहीं होगा उनको अशुभ कर्मों का ही बंधन होगा जिससे मन, वचन और काया के तीनों करण द्वारा अशुभ फल भुगतने का होगा। पूर्व भव के कितने ही पाप कर्मों का उदय हो और जीवन महा दुःखदायी हो तो भी यह आत्मा स्वयं की जबरदस्त आत्मशक्ति द्वारा भूख के दुःख समय में तपश्चर्या द्वारा, रोग के आक्रमण के समय आत्म संयम द्वारा और आर्थिक दुःख के अभाव में संतोष भाव को धारण करके तथा कामदेव के सामने कठिन आत्म नियंत्रण आदि शुभ आराधना के प्रताप से अशुभ कर्मों का शुभ भाव में संक्रमण करेगा। यह सब कर्म करण का ही आभार है।

आत्मा की संपूर्ण शक्तियों को दबाने वाले घाति कर्मों का सर्वथा नाश होने के बाद केवल ज्ञानी भगवान को यह 'कर्म करण' सर्वथा कमजोर हो जाने से दूसरे करण भी कमजोर बनते हैं अर्थात उनकी सत्ता नहीं के बराबर ही होती है। शैलेशी अवस्था के बाद सिद्ध अवस्था प्राप्त होते ही सबसे प्रथम कर्म करण नाश होता है बाद में तीन करणों की सत्ता भी समाप्त हो जाती है।

अत्यन्त दुःखदायी कर्मों के पिंजड़े में से मुक्ति को पाना इसका

ही नाम अनंत सुख है। औदायिक भाव का संपूर्ण नाश करके क्षायिक भाव पाना ही अनंत सुख है अर्थात दुःख का नाश यही सुख है।

सिद्ध भगवान अनंत सुखी इसलिए हैं कि उनको एक भी करण नहीं है।

वेदना और निर्जरा :

जीवों में कितने ही जीव महावेदनावाले और महानिर्जरावाले होते हैं। कितने ही महावेदनावाले और अल्पनिर्जरावाले होते हैं। कितने तो अल्पवेदनावाले और महानिर्जरावाले होते हैं और कितने ही जीव अल्पवेदनावाले और अल्पनिर्जरावाले होते हैं।

प्रतिमाधारी साधु महावेदनावाला और महानिर्जरावाला होता है। छठी और सातवीं पृथ्वी में रहनेवाले नैरयिक महावेदनावाले और अल्पनिर्जरावाले होते हैं। शैलेशी प्राप्त अणगार अल्पवेदनावाला और महानिर्जरावाला होता है। अनुत्तरोपपातिक देव अल्पवेदनावाले और अल्पनिर्जरावाले होते हैं। ❖३

❖३ वेदना और निर्जरा का साहचर्य :

इन दोनों का साहचर्य इसलिए है कि वेदना निर्जरापूर्वक ही होती है और निर्जरा भी वेदनापूर्वक होती है। भुगते हुए कर्म आत्मप्रदेश से छूट जाय उसे निर्जरा कहते हैं।

गीले वस्त्र पर जिस प्रकार सभी दिशाओं से रजःकण और मैल लगता है, ज्यादा लगता है, तथा वस्त्र और मैल का अणु अणु में एकाकार हो जाता है उसी प्रकार आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर आठ प्रकार की कर्म वर्गणा प्रतिपल लगती रहती है। ज्यादा लगती ही जाती है और दूध तथा शक्कर की तरह एकाकार हो जाती है।

गन्दे वस्त्र को साबुन के पानी में डालिए और उसे धोइए तो मैल अलग हो जाएगा और वस्त्र स्वयं के शुद्ध स्वरूप में आ जाएगा। इसी प्रकार कर्मों के कारण से आत्मा को भयंकर वेदना भुगतनी पड़ती है। जो मोहग्रसित आत्मा है वह रोती चिल्लाती, हाय हाय करती हुई कर्मों को भुगतती है जबकि ज्ञानवासित आत्मा हंसते हंसते भुगतती है। पहली में छठी और सातवीं नरक की आत्माएँ है जो भयंकर वेदना भुगतते हुए भी कर्मों की निर्जरा कम करनेवाली होती है दूसरे उदाहरण में प्रतिमा धारक मुनिराज है जो स्वयं के कर्मों की निर्जरा के लिए अधिक कष्ट जानकर सहन करते हैं जिनसे उनको भी वेदना अधिक होती है साथ-साथ कर्म निर्जरा भी अधिक होते हैं। शैलेशी प्राप्त मुनिराज को वेदना बहुत ही अल्प होती है और निर्जरा अधिक होती है। अनुत्तरोपपातिक देव को वेदना भी अल्प और निर्जरा भी अल्प होती है।

॥ प्रथम उद्देश समाप्त ॥

शतक छठा उद्देश २
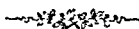
जीव का आहार :

यह उद्देशक आहार सम्बन्धी है परन्तु इस सम्बन्ध की हकीकत "प्रज्ञापना सूत्र" में देखने को कही है।

'प्रज्ञापना सूत्र' के २८ में आहार पद में जीवमात्र के आहार संबन्धी विस्तृत विवरण है। उदाहरण के रूप में—

पृथ्वी वगैरह के जीव जो पदार्थ खाते हैं वे सचित्त है? अचित्त हैं? कि दोनों प्रकार के? जीवों के आहार की अभिलाषा, कौन-से जीव को कितनी-कितनी बार आहार की जरूरत पड़ती है? आहार के लिए कौन-कौनसी चीज वापरने में आती है? आहार करनेवाला जीव स्वयं के शरीर द्वारा आहार लेता है कि दूसरी तरह से? खाने के लिए प्राप्त पुद्गल में कितना भाग खाने में आता है? खाने के लिए मुँह में गये हुए सभी पुद्गल खाने में आते हैं कि उनमें से कितने गिर भी जाते हैं। खायी हुई चीजों के कैसे-कैसे परिणाम होते हैं? जो जीव एकेन्द्रियादि जीव के शरीर का भक्षण करते हैं वे किस प्रकार से? कैसे? लोमाहार और रोमाहार कौन-सा? कौन-कौन से जीव किस-किस प्रकार से आहार करते हैं? अन्त में मन के द्वारा तृप्ति पाते हुए मनोभक्षी देव सम्बन्धी विवरण है। ※४

※४ चराचर संसार को स्वयं के ज्ञानचक्षु से प्रत्यक्ष करनेवाले, जीवमात्र की गती, आगति, कर्मवेदना, खुराक आदि के ज्ञाता, द्रव्यमात्र के गुणों तथा भूत-भविष्य और वर्तमान पर्यायों को जाननेवाले समवसरण में

विराजमान भगवान महावीर स्वामी को चार ज्ञान के स्वामी गौतमस्वामीजी ने नरकादि गतियों में बसे हुए जीवों के खुराक (आहार) संबन्धी प्रश्न पूछे हैं जिसको भगवतीसूत्रकार स्वयं 'प्रज्ञापना सूत्र' से जान लेने की सलाह देते हैं।

ये प्रश्नोत्तर राजगृही नगरी में हुए हैं। सातों नरक भूमि में उत्पन्न हुए नैरयिकों का आहार आभोग निर्वर्तित (इच्छापूर्वक का आहार) तथा अनाभोगिक निर्वर्तित (इच्छा बिना का आहार) दो प्रकार का है। अचित्त पदार्थों के ही आहार करते-करते नैरयिकों को आभोग निर्वर्तित आहार असंख्य समय के अन्तर्मुहूर्त बाद होता है और दूसरे प्रकार का आहार हमेशा होता है। यह आहार अत्यधिक रूप से अनंत प्रदेश परमाणुवाला काले और नीले रंग के, दुर्गन्धमय, तीखे और कड़वे रसवाले, स्पर्श में भारी कर्कश, ठंडे और रूक्ष होते हैं। स्वयं के पास रहे हुए पुद्गलों को संपूर्ण शरीर से खाते हैं। जो पुद्गल खाने के हैं उनमें से असंख्य भाग को खाते हैं और अनंत भाग का सिर्फ स्वाद लेते हैं। खाये हुए आहार के परिणाम से उनकी पांचों इन्द्रियों में अनिष्टता, अकांतता और अमनोज्ञता ही उपजती है। इस तरह नर्क के जीवों के पापकर्म भारी होने से एक भी वस्तु का परिणमन उनके लिए शुभ नहीं बनता है। असुरकुमार से लगाकर वैमानिक देवों तक की बात करते कहा है कि :—असुरकुमारों को एकबार आहार करने के बाद इच्छापूर्वक का आहार एक अहोरात्री बाद होता है और अधिक से अधिक एक हजार वर्ष जाने के बाद होता है।

उनके भोग्य पुद्गल रंग में पीले और सफेद होते हैं। वे सुगंधी गंधवाले, खट्टे, मधुर रस, कोमल स्पर्श, हल्के, चिकने और गर्म होते हैं। भोजन किया हुआ आहार शरीर और इन्द्रियों की सुन्दरता में परिणमता है। अनाभोग आहार हमेशा होता है।

अब आभोग निर्वर्तित आहार का जघन्य और उत्कृष्ट समय निम्न कोष्टक से जानना :—

स्वर्ग	जघन्य	उत्कृष्ट समय
सौधर्म	२ से ९ दिन वाद	२ हजार वर्ष वाद
ईशान	२ से ९ से अधिक समय	२ हजार वर्ष से ज्यादा
सनत्कुमार	२ हजार वर्ष वाद	७ हजार वर्ष वाद
माहेन्द्र	२ हजार वर्ष से अधिक	७ हजार वर्ष से अधिक
ब्रह्मलोक	७ हजार वर्ष वाद	१० हजार वर्ष वाद
लांतक	१० हजार वर्ष वाद	१४ हजार वर्ष वाद
महाशुक्र	१४ हजार वर्ष वाद	१७ हजार वर्ष वाद
सहस्रार	१७ हजार वर्ष वाद	१८ हजार वर्ष वाद
आनत	१८ हजार वर्ष वाद	१९ हजार वर्ष वाद
प्राणत	१९ हजार वर्ष वाद	२० हजार वर्ष वाद
आरण	२० हजार वर्ष वाद	२१ हजार वर्ष वाद
अच्युत	२१ हजार वर्ष वाद	२२ हजार वर्ष वाद

अनुत्तर विमानवासी की आखिरी से आखिरी आहार करने कि इच्छा ३३ हजार वर्ष वाद होती है। देव के पुण्यकर्म अधिक होने से स्वाभाविक रीती से आहार करने की इच्छा थोड़ी ही होती है।

पृथ्वीकाय के जीव निरन्तर आहार के अभिलाषी होते हैं। मध्य में अन्तर नहीं हो तो उसी प्रकार वनस्पतिकाय के जीवों के बारे में भी जानना।

बेइन्द्रिय जीव को असंख्य समय अन्तर्मुहूर्त आभोग निवर्तित आहार होता है वह आहार रोमाहर (रोम के द्वारा करने का आहार) करते हैं जो सभी खा जाते हैं। कवलाहार (कवल रूप से लेने का आहार) को असंख्य भाग में खाते हैं और बाकी नाश हो जाता है।

पंचेन्द्रिय तिर्यन्चो को जघन्य से अन्तर्मुहूर्त व्यतीत होने के वाद आभोग निवर्तित आहार होता है और उत्कृष्ट से दो दिन वाद आभोग निवर्तित आहार होता है।

मनुष्य को उत्कृष्ट से तीन दिन बाद और जघन्य से एक अन्तर्मुहूर्त बाद आहार होता है

एकेन्द्रिय जीव, नैरयिक और देव रोमाहार से ही भोजन करते हैं जिससे उनको कवलाहार नहीं है। बेइन्द्रिय जीव से मनुष्य तक के जीव रोमाहार और कवलाहार करते हैं। नर्क के जीव को ओज आहार (संपूर्ण शरीर द्वारा आहार) होता है परन्तु वे मनोभक्षी नहीं हैं। इसी तरह से सभी औदारिक जीव के बारे में समझना जबकि सभी देव ओज आहार करनेवाले और मनोभक्षी होते हैं।

'हम मनोभक्षण करना चाहते हैं।' इसप्रकार की इच्छा मन में पैदा होती है और तुरन्त ही वे मनपसंद अणु आहार के लिए तैयार हो जाते हैं और शरीर की सुंदरता में उनका परिणमन हो जाता है। भोजन करने के बाद इच्छा मन निवृत्त होता है।

एकेन्द्रिय जीव अपर्याप्त अवस्था में ओज आहार और पर्याप्त दशा में रोमाहार और कवलाहार करते हैं।

॥ दूसरा उद्देश समाप्त ॥
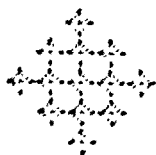
शतक छठा उद्देश ३

इस उद्देश में महाकर्म और अल्पकर्म, कर्म का चय और उपचय, जीवों का सादि-सान्तादि विचार, कर्म की स्थिति, कर्म को बांधनेवाले का अल्प-बहुत्व आदि विवरण है। सार यह है :—

जिस प्रकार धुले हुए अथवा दुकान से लाये हुए नए ताजे वस्त्र के ऊपर धीरे-धीरे चारों तरफ से पुद्गल चिपकते हैं, सभी तरफ से पुद्गल का चय होता है। उसी प्रकार जो महाक्रियावाला, महाकर्मवाला, महाआश्रववाला और महावेदनावाला होता है उसे सब प्रकार से पुद्गल का बंध, पुद्गल का चय, उपचय और निरंतर बन्ध होता है जिससे आत्मा दुरुप, दुर्वर्ण, दुर्गन्ध, दुरस, दुःस्पर्श, अनिष्ट, अकांत, अमनोज्ञ आदि अशुभ परिणाम में परिणमती है।

जो आत्मा अल्पआश्रववाली, अल्पकर्मवाली अल्पक्रियावाली और अल्पवेदनावाली होती है वह धीरे-धीरे सभी तरह से शुभ और शुभ-तर परिणाम में परिणमती है।

जिस प्रकार मैला गन्दा कपड़ा धोते-धोते स्वच्छ होता है उसी प्रकार उसके अशुभ पुद्गल नष्ट हो जाते हैं, दूर हो जाते हैं। ❖५

❖५ नये अथवा धोकर पहने हुए वस्त्र के ऊपर प्रति समय चारों तरफ से धूल के रजःकण लगते जाते हैं और बहुत दिनों तक उसे धोये नहीं तो एक दिन वह वस्त्र सर्वथा काला, दुर्गन्ध और पहनने पर किसी को भी अच्छा नहीं लगे इतना मैला हो जाता है।

इस प्रकार अनादिकाल से संसार में कर्मवश परिभ्रमण करती आत्मा

भी चार कारण से प्रतिसमय भारी होती जाती है। ये चार कारण निम्न प्रकार से हैं :—

(१) महाकर्मसत्व—अर्थात तीव्रातितीव्र प्रकार से उदय में आये हुए पापकर्मों की वासना से बंधे हुए और बंधाते हुए कर्मों में रस की तीव्रता, तीव्रतरता और तीव्रतमता भी बढ़ती जाती है। जिस प्रकार नीम के चार सेर रस में जो कड़वाहट होती है उससे भी उसको उबालकर उसमें से एक सेर रस जलाने के बाद बाकी रहे तीन सेर रस में पहले से अधिक कड़वाहट होती है। उसी प्रकार उबालकर बाकि रहे दो सेर रस में अधिक और एक सेर रस में तो सबसे अधिक कड़वाहट होती है। सारांश यह कि चार सेर रस में से एक सेर रस में बहुत अधिक कड़वाहट होती है। उसी तरह क्रोध मान, माया और लोभ के वश बंधे हुए पाप कर्मों के प्रति मन के परिणाम अधिक खराब होने से आर्तध्यान में से रौद्रध्यान में प्रवेश करते ही मन की क्लिष्टता एकदम बढ़ जाती है और उससे आत्मा के प्रदेश पर कृष्ण लेश्या की छाया पड़ते ही आत्मा के प्रदेशों में एकदम कालापन आ जाता है अर्थात् कर्म बांधते समय प्रारंभ में मन के परिणाम जितने क्लिष्ट होते हैं वे आगे बढ़ने पर क्लिष्टतर और क्लिष्टतम बनने पाते हैं और परिणाम स्वरूप उन कर्मों का बंध भी तीव्र तीव्रतर और तीव्रतम बनता जाता है और आत्मा के साथ कर्म के रहने की मर्यादा भी बढ़ती जाती है। कर्मों का रस भी वैसे ही तीव्र-तीव्रतर और तीव्रतम भुगतना पड़ता है।

अपनी संस्थाएँ, संघ या मंडल एक सामान्य बात को लेकर आपस में लड़ पड़ते हैं। आपस में वैर की भावना उत्पन्न हो जाती है तथा दो पक्षों में विभाजित हो जाते हैं। आपस में संघर्ष बढ़ता ही जाता है, वैर विरोध की भावना तीव्र-तीव्रतर और तीव्रतम बनती जाती है। सामनेवाले को जड़ से फर फेंक उखाड़ देने की भावनाप्रबल बनती है। दोनों पक्षों में मारामारी और खूनखराबी होती है। केस कोर्ट में चला जाता है और फैसला एक पक्षी होने के कारण सामनेवाले में वैर की भावना अधिक तीव्रतम बन

जाती है इस प्रकार बंधे हुए कर्मों को चिकने और लम्बी मर्यादावाले बनाने में आते हैं।

(२) महाकिरियस्स— मन वचन और काया को पाप, परद्रोह और हिंसक मार्ग में ले जाने में, मानसिक जीवन में सत्य और सदाचार न होने में उसका संपूर्ण जीवन पांचों क्रिया में लीन बन जाता है। पांचों क्रिया इस प्रकार हे :- (१) कायिकी क्रिया (२) अधिकरणिकी क्रिया (३) प्राद्वेषिकी क्रिया (४) परितापनिकी क्रिया और (५) प्राणातिपतिकी क्रिया।

इन पांचो क्रियाओं से महाभयंकर कर्मों की उपार्जना होती है क्यों कि-परहत्या, परवंचकता, परस्त्रीगमन, मर्यादारहित परिग्रह, द्वेष और वैर से भरा हुआ मन यह सब पाप है-महापाप है और दुर्गति में ले जाने वाला घोर कर्म है।

(३) महासवस्स—लाखों करोड़ो वर्ष तक फिर से मनुष्य भव की प्राप्ति न हो ऐसे भयंकर कर्म की उपार्जना करने के मूलकारण महाआश्रव हैं जिससे मनुष्य मिथ्यात्व के नशे में महाहिंसक, महा असत्यवादि, महा-चोर, आजीवन मैथुन कर्म में आसक्त रहनेवाला, परिग्रह के प्रति अत्यन्त आसक्ति रखनेवाला और हजारो लाखों मनुष्यों के साथ वैर विरोध-कषाय क्लेश आदि कार्य करता है, कराता है और करनेवालों को आश्रय देता है। इस प्रकार स्वयं की आत्मा को कर्मों के भार से बहुत ही वजनदार बनाकर दुर्गति के गहरे गर्त में पहुँचा देता है जहां से वापस मनुष्य भव को पाना बहुत ही मुश्किल है।

(४) महावेयणस्सः—भव भवान्तरों के हिंसक कार्यो के फलस्वरूप मनुष्य अवतार पाने पर भी सर्वथा अशाता वेदनीय कर्म को लेकर शरीर के भयंकर रोगों को सहन करते-करते, रोते-रोते अपना जीवन पूर्ण करता हैं। इलाज से थक जानेपर भी वेदना से छुटकारा नहीं होने से फिर से वेदना-वश आर्तध्यान और रौद्रध्यान में जीवन पूर्ण करता है।

अर्थ और काम के साधन प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार से मानसिक वेदना भुगतनी पड़ती है। प्राप्त किये हुए अर्थ और काम के साधनों में बहुत ही कष्ट भुगतना पड़ता है और रौद्रध्यान में ही जीवन का अन्त आता है।

उपरोक्त चार महान कारण से कर्म की बेड़ी में फंसा हुआ जीव मनुष्य अवतार पानेपर भी उसके शरीर की हालत तो शास्त्र के अनुसार निम्नप्रकार की होती है :—

दुरूवत्ताए—शरीर अत्यन्त कुरूप होता है।
दुवण्णत्ताए—शरीर का रंग खराब होता है।
दुगंधत्ताए—शरीर का पसीना, मलमूत्र आदि दुर्गंधी होते हैं।
दुरसत्ताए—पसीना आदि का रस बहुत ही खराब होता है।
दुफासत्ताए—किसी को भी स्पर्श करने की इच्छा न हो ऐसा उसके शरीर का स्पर्श उष्ण और कर्कश होता है।
अणिट्ठत्ताए—स्वयं को भी उसका शरीर पसन्द न हो ऐसा होता है।
अकंतत्ताए—शरीर में जरा भी सुन्दरता नहीं होती है।
अप्पियत्ताए—सभी को अप्रिय लगे ऐसा शरीर होता है।
असुभत्ताए—दूसरे को अमंगलमय लगता है।
अमणुन्नत्ताए—अपने शरीर से अपना मन भी उदास रहता है।

पूर्वभव के कर्मों के कारण विपाक रूप में मनुष्य को उपरोक्त प्रकार के अति खराब शरीर की प्राप्ति होती है। उसमें भी उस जीव के शरीर के अंगोपांग, उसका चलना, उठना बैठना, सोना आदि शरीर की चेष्टाएँ भी इतनी बेडौल होती है कि दूसरों को बिल्कुल पसन्द नहीं आती है और अमंगलमय लगती है।

शरीर रचना का मूल कारण [illegible] नामकर्म है जो दो प्रकार का है—शुभ और अशुभ। अशुभ नामकर्म बांधने के कारण ये हैं—हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, अब्रह्म सेवन करना, महापरिग्रह रखना, महारंभ

करना, कठोर वचन बोलना, आक्रोश करना, दूसरे के सौभाग्य को नष्ट करना, मजाक करना, वेश्या तथा असती स्त्री आदि को वस्त्र अलंकार आदि देना, दूसरे के घर में या जंगल में ईर्ष्या से आग लगाना, जिन मन्दिर की मूर्तियों को नष्ट करना, पन्द्रह कर्मादान के व्यापार को करना इत्यादि अनेक कारणों को लेकर अशुभ नामकर्म बंधता है।

इस प्रकार महाआश्रव आदि के मालिक रस और स्थिति को लेकर निकाचित चिकने कर्म बांधते है। जो अल्प क्रियावाला हो, अल्प कर्म वाला हो और अल्प वेदनावाला हो वे बंधे हुए कर्म को भी दूर हटाते जाते हैं यहांतक कि संपूर्ण कर्मों को नाश करने में भी तैयार रहते हैं।

पुदगलों का उपचय प्रयोग से :

वस्त्र के ऊपर पुद्गलों का उपचय प्रयोग से भी होता है और स्वाभाविक भी होता है परन्तु जीव को जो कर्म का उपचय होता है वह प्रयोग से ही होता है परन्तु स्वाभाविक रूप से नहीं होता है क्योंकि जीव को तीन प्रकार के प्रयोग बताये हैं–मन प्रयोग, वचन प्रयोग और काय प्रयोग। सभी पंचेन्द्रिय को तीन प्रकार का प्रयोग, पृथ्वीकाय को एक प्रकार का प्रयोग (वनस्पतिकाय भी) तथा विकलेन्द्रिय को दो प्रकार का प्रयोग वचन और काय होता है।

इन तीन में से कोई भी एक या. दो या तीन प्रकार के प्रयोग से आत्मा पुद्गलों का उपचय करती है।

वस्त्र को जो पुदगल का उपचय होता है वह सादि सांत होता है परन्तु सादि अनंत, अनादि सान्त तथा अनादि अनंत नहीं होता है परन्तु जीव को ऐसा नहीं है। कितने ही जीव का तो कर्मोपचय सादि सान्त होता है, कितने को अनादि सांत होता है और कितने ही को अनादि अनंत होता है पर किसी का भी कर्मोपचय सादि अनंत नहीं है। उदाहरण के रूप में ऐर्यापथ के बंधक का कर्मोपचय सादि सान्त होता है, भवसिद्धिक

द्वेषात्मक ही होती है। अतः उनके लिए हर समय सातों कर्म के द्वार खुले ही रहते हैं।

किसी परिस्थिति को लेकर किसी समय उनका कषाय भाव दबा हुआ प्रतीत होता है तो भी आन्तरिक जीवन में क्रोध, मान, माया और लोभ स्वयं की सत्ता जमाकर बैठा हुआ होने से उन भाग्यशालीयों का खाना, पीना, सोना, उठना, लिखना, हंसना, रोना आदि सभी क्रियाएँ कषाय भाव से व्याप्त ही होती है।

मानले कि कोई साधक आत्मा की अनेक क्रियाओं में क्रोध, मान तथा माया नाम के कषाय दृष्टिगोचर नहीं होते है तो भी गुप्तवेशधारी की तरह लोभसत्ता तो देखने में आती ही है। कहीं पर धन का लोभ, तो दूसरा सत्ता का लोभ, तीसरा मान-प्रतिष्ठा का लोभ कहीं पर पुत्र–शिष्य का लोभ, कहीं सूक्ष्म प्रकार से विषय वासना का लोभ। जिस तरह नाटक मंडली में एक ही नट अलग–अलग रूप से आता है उसी प्रकार से लोभ नाम का जबरदस्त नट भी अलग–अलग रूप में अवतरित होकर मनुष्य को स्वयं के अधीन करता है अर्थात् मानवमात्र जो कुछ करता है उसमें लोभ का अंश जरूर रहता ही है। जहां लोभ होता है वहां प्रच्छन्न रूप से क्रोध की संभावना भी इनकारी नहीं जा सकती है।

"लोभात् क्रोधः संजायते"

लोभ से क्रोध होता है। क्रोधी मानव मान–अहंकार–से मदयुक्त बनता है और अहंकारी आत्मा को माया का जाल चारों तरफ से जकड़ कर रखता है।

इस प्रकार तीन भांगो से कर्म की स्थिति होती है। सादि अनंत भांगा इसलिए शक्य नहीं है कि जो सादि होता है वह अनंत नहीं होता है।

जीव की सादि सांतता का विचार :

वस्त्र स्वयं सादि सांत है पर सादि अनंत या अनादि अनंत नहीं है। उसी प्रकार जीव सादि सांत है, सादि अनंत है अनादि सांत है और अनादि अनंत भी है। नैरयिक, तिर्यन्च, मनुष्य और देव गति-आगति सादि सांत है। की अपेक्षा से सिद्ध सादि अनंत है। संसार की अपेक्षा से अभव्य सिद्ध अनादि अनंत हैं। ❋७

❋७ वस्त्र और जीव की सादि सांतता का विचार :

वस्त्र अनादि भी नहीं होते और अंत बिना के भी नहीं होते है इसलिए सादि सांतता वस्त्र की है जबकि जीव के विषय में चारों भांगे सिद्ध होंगे जो निम्न है :-

(१) सादि सांत—चार गति के जीव, गति और आगति की अपेक्षा से सादि सांत है। मनुष्य मरकर देवरूप में बने हुए जीव की मनुष्य गति सांत हुई और देवगति की आदि हुई।

(२) अनादि सांत—भव सिद्धिक स्वयं की भव्यत्व लब्धि के कारण अनादि है और मोक्ष में जाते ही वह लब्धि सांत बनती है।

(३) अभव्य सिद्धक—संसार की अपेक्षा से अनादि है और अभव्यत्व उनका किसी काल में नाश होनेवाला नहीं है इसलिए अनादि अनंत कहलाते हैं।

(४) सादि अनंत—भूतकाल में सिद्धगति सिद्ध बिना की नहीं होती उसी से जिन भाग्यशाली को सिद्ध गति प्राप्त हुई उस अपेक्षा से ही सिद्धों की सादिता मान्य रहेगी शायद कोई काल में सिद्ध बिना की सिद्ध शिला रही हो तो प्रश्न हो सकता है कि सिद्ध में सबसे पहले सिद्ध कौन हुआ ?

जवाब में भगवान ने फरमाया है कि सिद्ध तथा सिद्धि अनादिकाल के होने से किसी समय भी सिद्ध बिना की सिद्ध शिला नहीं होती है।

जिस तरह अनंत संसार में अपनी आत्मा ने सबसे पहले कौन सा अवतार धारण किया होगा? अनंतानंत अहोरात्रि व्यतीत होने के बाद सबसे पहली अहोरात्रि कौन सी? इस तरह सिद्ध बिना की सिद्ध शिला कभी भी थी ही नहीं। इस वचन के अनुसार सिद्धत्व प्राप्ति की अपेक्षा से सादिता और अनादिकाल की मर्यादा होने से अनंतता। इसी से आनंदघनजी ने महाराज प्रथम प्रभु के स्तवन में कहा है:—

"……………………………भागे सादि अनंत रे"।

कर्म की प्रकृति और उसकी स्थिति :

कर्म की प्रकृति आठ है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अंतराय, वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य। ❊८

❊८ कर्म और उसकी स्थिति :

बंधे हुए कर्म आत्मा के साथ कितने समय तक रहेंगे? यह प्रश्न है। उसकी स्पष्टता करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि निश्चित हुई स्थिति में से अबाधाकाल को छोड़कर शेष स्थिति को कर्मनिषेक काल कहते हैं उसका विवेचन और कोष्टक पहले भाग में दिया है। बहुत समय पहिले के बंधे हुए कर्म सोये हुए अजगर की तरह कुछ भी लाभ हानि किये बिना वैसे के वैसे आत्मा के प्रदेशों में पड़े रहते हैं और वह अबाधा काल पूर्ण होते ही वे ही कर्म अनुभव—विपाक के योग्य बनते हैं। प्रति समय बंधते हुए वे कर्म जिसके साथ जिस पद्धति से और वैर के अध्यवसायों से बांधे होते है जैसे—किसी समय चंपकलाल के साथ जोरदार क्लेष किया। आधे घंटे बाद मोतीलाल के साथ झगड़ा किया और थोड़े समय बाद घरवाली का पक्ष लेकर छोटे भाई के साथ डंडे से युद्ध किया।

इस तरह एक घंटे में तो कितनों ही के साथ गाली गलोज, निंदा, मार पीट, आक्रोश—विक्रोश आदि पापमय और वैरमय अध्यवसाय द्वारा

भीत्तर कोड़ाकोड़ी की उत्कृष्ट मर्यादावाला मोहनीय कर्म अलग–अलग प्रकार से बांधा और फिर वैर कर्म जितनी अबाधाकाल की स्थिति से बांधा है वह समय पूर्ण करके उस कर्म का उदय में आने की प्रक्रिया चालू होती है। जिसके साथ वैर कर्म बांधा है वह व्यक्ति भी स्वयं के वैर का बदला लेने के लिए जन्म जन्मान्तर में भी अपने साथ ही उत्पन्न होता है और वैर का बदला लेता है। जिस प्रकार कमठ और पार्श्वनाथ, अग्निशर्मा और गुणसेन वैर की गांठ में बंधने के बाद प्रत्येक भव में कमठ ने पार्श्वनाथ के जीव को और अग्निशमा ने गुणसेन के जीव को बेमौत मारा है। अपने लिए भी अपन समझलें कि—जोरदार बांधे वैर कर्म के विपाक में एक भव का वैरी इस भव में अपना छोटा भाई बनकर उत्पन्न हुआ और बड़े भाई को बहुत सताता है। अन्त में दूसरों के पास से बड़े भाई को मार डालने का षडयंत्र रचता है। छोटे भाई के कारण से कष्ट पर कष्ट बढ़ता जाता है और दुःख की परम्परा को भुगतते जब कर्मों के निषेक का रसोदय काल पूर्ण होता है तब छोटे भाई के हाथ से बड़े भाई की निर्दयतापूर्वक मृत्यु होती है।

कम मर्यादावाला यह कर्म होगा तो इस भव में ही पूर्ण हो जायगा नहीं तो कितने ही भव तक कष्ट भुगतने की परम्परा चालू रहेगी जब तक कर्मों का अंत न हो जाय।

इस प्रकार अनंतानंत वैर–कर्म की वर्गणाएँ जीवात्मा के साथ विपाक के योग्य सत्ता में पड़ी हुई है परन्तु दोनों जीव संसार में रखड़ते–रखड़ते जब एक स्थान में इकट्ठे होते हैं तब उन कर्म का उदय तीव्रता से आता है। जैसे त्रिपृष्ठवासुदेव ने शय्यापालक के कान में गर्म शीशा डलवाया उसके बाद दोनो जीव ८० सागरोपम समय व्यतीत होने के बाद एक ही स्थान पर मनुष्य भव में इकट्ठे होते हैं। त्रिपृष्ठवासुदेव का जीव भगवान महावीर के रूप में अवतरीत है और शय्यापालक का जीव ग्वाला के रूप में। भगवान महावीर के कान कीले ठोककर अपना बदला लेता है।

यहां भी ८० सागरोपम का काल निषेककाल जानना। कर्म में फल देने की योग्यता थी पर वैरी मिलनेपर ही वैर का बदला लिया जाता है। शास्त्रकार फरमाते हैं—राग, द्वेष, वैर, विरोध, क्रोध, लोभ, माया आदि भयंकर पाप स्थानक हैं। जिसके कारण थोड़े समय के लिए सुख भोगा और लम्बे समय तक दुःख भुगतने पड़े। गृहस्थाश्रम की थोड़ी सुख शांति मिली या न मिली तो अपने ही बनाये हुए गृहस्थाश्रम के सभी सदस्य माता-पिता, भाई-भाभी आदि सभी अपने दुश्मन बनकर असह्य दुःख को देनेवाले बनते हैं।

मोह राजा के दो पुत्र हैं—राग और द्वेष। राग बड़ा भाई है और अनंत शक्ति का मालिक है जबकि द्वेष छोटा भाई है। राग जीवात्मा का हाड़वैरी और दुर्भेद्य दुश्मन है। जहां राग है वहां द्वेष भी हाजिर है। सामने वाला जीव अपने इस भव का हाड़वैरी है तो किसी समय अपने साथ राग के सम्बन्ध से संबंधित बना होगा। जिस समय और जिस स्थान में स्वार्थ के कारण हम दूसरे जीव के साथ मोह या लोभ के वश बनकर स्नेह के सम्बन्ध के साथ जुड़े फिर वह व्यक्ति अपने को इतना अधिक प्यारा लगता है कि मानो उसको छोड़कर दूसरे के साथ बोलने का मन भी नहीं करता है। सिर्फ उसका ही सहवास अच्छा लगता है। बार बार उसको ही मिलने का मन होता है और स्वार्थ पूर्ण राग के नशे में अच्छे बुरे का विवेक भूलकर उसके साथ राग का नियाणा (निदान) बांधने को तैयार हो जाते हैं। वह इस प्रकार :—अगले भव में दोनों मित्र बनेंगे, पति-पत्नि बनेंगे, तू मेरी पत्नि बनना, मैं तुझे मिलने के लिए तपस्या करूंगा। इत्यादि विचारों में अगले भव को सुखी बनाने में मृगजल जैसे इरादे अज्ञानता से उसके साथ बांधते जाते हैं। इन सभी संबंधों के मूल में, मोहवासना, स्वार्थ-साधना, विषय वासना आदि होने के कारण उस स्वार्थ साधना में जरा भी कमी पड़ते ही दूसरा कोई अपनी इच्छा को पूरी करनेवाला रूपवान पात्र मिलते ही पहिले की मित्रता को तिलांजली देकर दूसरे के साथ मैत्री

जोड़ने को तैयार हो जाते हैं। तथा पहलेवाले व्यक्ति के साथ द्वेष भावना होते ही वह सम्बन्ध अपन तोड़ लेते हैं। उस समय सामने का व्यक्ति पुरुष हो या स्त्री हो अपने साथ द्वेष का नियाणा बांधता है। हम भी द्वेष भावना से उसके साथ द्वेष का नियाणा बांधते हैं।

इस तरह एक ही स्वार्थवश से बंधे हुए दोनों नियाणों को साथ लेकर भव-भवान्तर में भमते भमते वह हाड़वैरी भी अपने साथ शत्रु रूप में अवतरीत होगा। पहले तो वह राग सम्बन्ध से अपनी साथ जुड़ेगा फिर गत भव का द्वेषपूर्ण नियाणा उदय में आते ही वह भाई, भाभी, मां-बाप, पति-पत्नी परिस्थितिवश अपने वैरी बनते हैं और अपना जीवन असह्य क्लेशमय बन जाता है। अन्त में तीव्रतम वैर का बंध उदय में आते ही उसके हाथ से तड़फ तड़फकर मृत्यु की शरण में जाना पड़ता है।

अब अशाता वेदनीय कर्म के उदयकाल को भी समझ लें जो स्वयं के अबाधाकाल के बाद में उदय में आते ही अपने मुँह में रही दाढ़ स्वयं के मूल स्थान से हिलते ही भयंकर वेदना खड़ी होती है। रसोदय भी शामिल मिलते ही वह वेदना सर्वथा असह्य बन जाती है। उस समय चाहे जितने पुण्योदय से मिला हो खाना बंद, पीना बंद, और नींद भी उड़ जाती है। गप्पे मारने में भी मजा नहीं आती है तथा इन्द्रिय सुख भुगतना भी अच्छा नहीं लगता है तो भी कर्म की स्थिति के कारण दाढ़ निकालने की सलाह देनेवाले को या दाढ़ निकालनेवाले डॉक्टर की अनुपस्थिति के कारण वह वेदना कितने ही समय तक भुगतनी पड़ती है। इसप्रकार उदय में आये हुए अशाता वेदनीय कर्म के साथ दूसरा शाता वेदनीय कर्म उदय में आने से थोड़े समय के लिए दाढ़ का दुःख शांत हो जाता है। पुनः वह कर्म हटने से विपाक उदय में रहा हुआ अशाता वेदनीय कर्म फिर जोर पकड़ता है हम परेशान हो जाते हैं। इस तरह जब अशाता का उदय हुआ तो कर्म निषेक हुआ। उसमें रसोदय के अनुसार दुःख कम-ज्यादा होता रहता है। जब कर्म की निर्जरा होने की तैयारी होगी तब दाढ़ का दर्द स्वयं कम हो

हो जायगा या डॉक्टर के पास निकलवाने के बाद उसको शाता होगी। इस प्रकार के कर्म जो विचित्र प्रकार से बांधे हैं वे प्रकारान्तर से उदय में आते हैं और जीवात्मा सुखदुःख का भोक्ता बनता है।

कर्मों को बांधनेवाले जीव :

ज्ञानावरणीय कर्म को स्त्री, पुरुष और नपुसंक तीनो बांधते हैं पर नोस्त्री नोपुरुष ये कभी बांधे या न भी बांधे। इस तरह आयुष्य को छोड़कर सातों कर्म प्रकृति के लिए जानना।

आयुष्य कर्म को स्त्री बांधे या न भी बांधे। ऐसे ही पुरुष और नपुसंक के लिए जानना। नोस्त्री नोपुरुष या नोनपुसंक वे तो आयुष्य कर्म को नहीं बांधते हैं। सयंत ज्ञानावरणीय कर्म कभी बांधे या न भी बांधे। असयंत बांधते हैं। संयतासंयत बांधते हैं।

नोसंयत, नोअसंयत नोसंयतासंयत वे नहीं बांधते हैं।

इसी तरह आयुष्यकर्म को छोड़कर सातों कर्मप्रकृतियों के बारे में जानना।

आयुष्यकर्म संयत, असयंत तथा संयतासंयत बांधे या न भी बांधे जबकि नोसंयत, नोअसंयत नोसंयतासंयत अर्थात सिद्ध नहीं बांधते हैं।

सम्यग्दृष्टी-ज्ञानावरणीय कर्म को कभी बांधे या न भी बांधे। मिथ्यादृष्टी ज्ञानावरणीय कर्म को बांधते हैं। सम्यग् मिथ्यादृष्टी-ज्ञानावरणीय कर्म बांधते हैं।

आयुष्य के सिवाय सातों कर्म प्रकृति के लिए ऐसा जानना।

आयुष्यकर्म-सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टी कभी बांधे या नहीं भी बांधे और सम्यग् मिथ्यादृष्टी (सम्यग् मिथ्यादृष्टी की दशा में) नहीं बांधता है।

संज्ञी—ज्ञानावरणीय कर्म कभी बांधे या न भी बांधे।

असंज्ञी—ज्ञानावरणीय कर्म को बांधते हैं।

आयुष्यकर्म—भवसिद्धिक अभवसिद्धिक कभी बांधे या न भी बांधे।

नोभवसिद्धिक—नोअभवसिद्धिक नहीं बांधते हैं।

चक्षुदर्शनी अचक्षुदर्शनी अवधिदर्शनी, केवलदर्शनी में से, चक्षुदर्शनी अचक्षुदर्शनी और अवधिदर्शनी ज्ञानावरणीय कर्म बांधे या न भी बांधे केवलदर्शनी नहीं बांधते हैं।

इसतरह वेदनीय सिवाय सातों कर्म प्रकृति के बारे में जानना।

वेदनीयकर्म—चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी और अवधिदर्शनी बांधते हैं। केवलदर्शनी कभी बांधे या न भी बांधते हैं।

पर्याप्त—ज्ञानावरणीयकर्म को विकल्प से बांधते हैं कभी बांधे या न भी बांधे।

अपर्याप्त—ज्ञानावरणीय कर्म बांधते हैं।

र्याप्त अर्थात सिद्ध नहीं बांधते हैं।

सातों कर्मप्रकृति के लिए समझना।

मिथ्याज्ञानी मनुष्य पंडित, महापंडित, विद्वान, वक्ता, लेखक और कवि भी हो सकते हैं परन्तु उनके ज्ञान में मिथ्यात्व, स्वार्थन्धता, विषय भाव और कषायों की बहुलता होने से उनका ज्ञान संसार, समाज, कुटुम्ब और स्वयं के व्यक्तित्व को भी अधःपतन के गर्त में डालनेवाला होता है जिससे हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह ये पांच महापापों की भेट देनेवाला बनता है जिससे समाज और देश को बहुत हानि होती है।

दूसरी सम्यक्त्वधारी आत्मा सम्यक्त्ववान्, समताशील, पाप भीरु, विरोधी तत्वों का त्यागी और परमार्थी होने से पूरे संसार को चराचर, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील और संतोषरूपी अमूल्य पांच रत्नों की भेंट देकर सुखशांति और समाधि देनेवाला बनता है।

मिथ्यात्वयुक्त ज्ञान चाहे जितना हो तो भी वह अज्ञान ही कहलाता है। अज्ञानी आत्मा वारवार ज्ञानावरणीय कर्म का उपार्जन करता रहता है। ज्ञानावरणीय कर्म आंख के ऊपर लगा हुआ पट्टा जैसा होने से उस जीव को स्वयं का, आत्मीयता का और अन्त में परमात्म तत्व का ज्ञान नहीं होने देता है। ऐसी परिस्थिति में आज हम संपूर्ण संसार को प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि:—

(१) संस्कृत जैसी देव भाषा का धारावाही वक्ता भी मांसाहारी और शराब पीनेवाला होता है, वेश्यागामी और परस्त्री लंपट होता है तथा जुआरि और शिकारी होता है।

(२) वेद और वेदांत के मंत्रों का स्पष्ट उच्चारण करनेवाला भी मछली खानेवाला और मद्यपान करनेवाला होता है।

(३) अंग्रेजी, उर्दू और फारसी भाषा के विद्वान भी राजनीति में पारंगत बनकर संसार को संघर्ष के चक्कर में ले जानेवाले होते हैं।

(४) पाली, प्राकृत, अर्धमागधी भाषा विशारद भी अपनी व्यक्तिगत बुरी आदत या समाजघातक प्रवृत्तियों को छोड़ नहीं सकते हैं।

साकार उपयोगवाले और अनाकार उपयोगवाले आठों कर्मप्रकृति को विकल्प से बांधते हैं। आहारक और अनाहारक जीव ज्ञानावरणीय कर्म को विकल्प से बांधते हैं।

इसप्रकार वेदनीय और आयुष्य सिवाय की छः प्रकृति के बारे में जानना।

वेदनीय–आहारक बांधते और अनाहारक भजना से बांधते हैं।

आयुष्यकर्म–आहारक भजना से बांधते और अनाहारक नहीं बांधते हैं।

सूक्ष्मजीव–ज्ञानावरणीय कर्म बांधते हैं।

बादरजीव–बांधे या न भी बांधे।

नोसूक्ष्म–नोबादर नहीं बांधते हैं।

इसतरह आयुष्य को छोड़ सातों कर्म प्रकृति के लिए जानना।

आयुष्य कर्म–सूक्ष्म और बादर भजना से बांधते हैं।

नोसूक्ष्म–नोबादर नहीं बांधते।

चरम जीव या अचरम जीव आठों कर्मप्रकृति को विकल्प से बांधते हैं और वेदकर्म की दृष्टि से बांधते हैं। ❁-१

❁-१ वर्षाऋतु में भरपूर भरी हुई नदियों का बहाव दो तरह का होता है। एक नदी का बहाव तो इतना तूफानी होता है कि जिस-२ गांवों के भाग में से जाती है उस-२ गांवो के झाड़ों आदि को उखेड़ती, तोड़ती हुई जाती है।

दूसरी नदी शांत और गंभीर रूप से बहती है और किसी को भी हानि किये बिना उलटी स्वयं के जल से सभी को पवित्र करती हुई जाती है।

इसीतरह ज्ञानमात्रा और उसके मालिक भी मिथ्याज्ञानी और सम्यग्ज्ञानी के रूप में दो प्रकार के होते हैं।

मिथ्याज्ञानी मनुष्य पंडित, महापंडित, विद्वान, वक्ता, लेखक और कवि भी हो सकते हैं परन्तु उनके ज्ञान में मिथ्यात्व, स्वार्थन्धता, विषय भाव और कषायों की बहुलता होने से उनका ज्ञान संसार, समाज, कुटुम्ब और स्वयं के व्यक्तित्व को भी अधःपतन के गर्त में डालनेवाला होता है जिससे हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह ये पांच महापापों की भेट देनेवाला बनता है जिससे समाज और देश को बहुत हानि होती है।

दूसरी सम्यक्त्वधारी आत्मा सम्यक्त्ववान्, समताशील, पाप भीरु, विरोधी तत्वों का त्यागी और परमार्थी होने से पूरे संसार को चराचर, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील और संतोषरूपी अमूल्य पांच रत्नों की भेट देकर सुखशांति और समाधि देनेवाला बनता है।

मिथ्यात्वयुक्त ज्ञान चाहे जितना हो तो भी वह अज्ञान ही कहलाता है। अज्ञानी आत्मा बारबार ज्ञानावरणीय कर्म का उपार्जन करता रहता है। ज्ञानावरणीय कर्म आंख के ऊपर लगा हुआ पट्टा जैसा होने से उस जीव को स्वयं का, आत्मीयता का और अन्त में परमात्म तत्व का ज्ञान नहीं होने देता है। ऐसी परिस्थिति में आज हम संपूर्ण संसार को प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि:—

(१) संस्कृत जैसी देव भाषा का धारावाही वक्ता भी मांसाहारी और शराब पीनेवाला होता है, वेश्यागामी और परस्त्री लंपट होता है तथा जुआरी और शिकारी होता है।

(२) वेद और वेदांत के मंत्रों का स्पष्ट उच्चारण करनेवाला भी मछली खानेवाला और मद्यपान करनेवाला होता है।

(३) अंग्रेजी, उर्दू और फारसी भाषा के विद्वान भी राजनीति में पारंगत बनकर संसार को संघर्ष के चक्कर में ले जानेवाले होते हैं।

(४) पाली, प्राकृत, अर्धमागधी भाषा विशारद भी अपनी व्यक्तिगत बुरी आदत या समाजघातक प्रवृत्तिओं को छोड़ नहीं सकते हैं।

(५) आज के विज्ञानी, कूटनीतिज्ञ, और राजनीति निपुण एटमबम्ब जैसे भयंकर अस्त्र–शस्त्र का उत्पादन कर संसार को मौत की घाटी में में उतारने की प्रवृत्तियों में रचेपचे हैं।

इन सभी में अज्ञान का प्रत्यक्ष चमत्कार देखने में आता है।

इसी कारण से दिव्य चक्षु के मालिक, जगत के जीवों के कल्याण करने वाले भगवान गौतम स्वामी देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी से पूछते हैं कि–ऐसा अज्ञानमय ज्ञानावरणीय कर्म कौन बांधता है ?

पुरुष या नोपुरुष ?

स्त्री या नोस्त्री ?

नपुंसक या नोनपुंसक ?

इस जवाब में महावीर स्वामी फरमाते हैं कि :–पुरुष–स्त्री और नपुंसक आत्मा ज्ञानावरणीय कर्म बांधते हैं परन्तु नोपुरुष, नोस्त्री और नोनपुंसक आत्मा इस कर्म को कभी बांधते हैं या नहीं भी बांधते हैं।

अब प्रश्न का हार्द अपन पकड़े उसके पहले पुरुषलिंग और पुरुष वेद, स्त्रीलिंग और स्त्रीवेद तथा नपुंसकलिंग और नपुंसकवेद की मीमांसा करना जरूरी है।

शैलेशी प्राप्त कर संपूर्ण कर्मों का नाश करके मोक्ष अवस्था प्राप्त करने के बाद ही यह आत्मा शरीर बिना की बनती है। उसके पहले तो प्रत्येक आत्मा को शरीर धारण किये बिना छुटकारा है ही नहीं। शरीरधारी आत्मा कर्मों के भार से वजनदार बन जाने से मदिरा के नशे के समान मोहनीय कर्म में मस्त बनकर भवान्तर के लिए पुरुषवेद स्त्रीवेद या नपुंसकवेद के कर्मों का उपार्जन करता है वह इस प्रकार है:—

पुरुषवेद :

(१) सम्यग्ज्ञान की रुचिवाला होकर स्वयं की आत्मा को जानने वाला होता है।

परस्त्री का त्यागी और स्वस्त्री के प्रति संतोषी तथा मर्यादावाला होता है।

(३) दूसरों के प्रति ईर्ष्या और विरोध बिना का होता है।

(४) कषायों को मन्द करने की प्रवृत्तिवाला होता है।

स्वयं के आचार–विचार तथा सत्कार्यों से खानदान शोभे वैसा आचरण-वाला होता है और सरल परिणामी होता है।

ये पांच प्रकार के जीव अगले भव के लिए पुरुषवेद कर्म का उपार्जन कर पुरुषलिंग शरीर को धारण करता है। शरीर की कठोरता, दाढ़ी, मूछ और जननेन्द्रिय का महापुरुष को शोभे जैसा दैर्ध्य और स्थौल्य होता है। इस तरह स्वयं के पुरुषवेद को भुगतने के लिए पुरुषलिंग अर्थात् पुरुषवेद को भोगने के लिए पुरुष अंगोपांगवाला पुरुष शरीर धारण करता है। जिसके द्वारा स्त्री को भोगने की इच्छा हो वह पुरुषवेद कहलाता है।

'पुरुषं वेदयति–मोहयति–मूढी करोतीति पुरुषवेदः'।

घास के ढेर में जैसे आग लगते देर नहीं लगती और लगी हुई आग को बुझते भी देर नहीं लगती उसी प्रकार से पुरुष को पुरुषवेद के नशे में चढ़ते देर भी नहीं लगती और नशा उतरते भी देर नहीं लगती है।

स्त्रीवेद :

(१) पुरुष शरीरधारी होने पर भी जो अत्यन्त ईर्ष्यालु हो अर्थात् गुणवान या पुण्यशाली जीव को देखकर उसके मन में असहिष्णुता या अरुचि उत्पन्न हो उसको ईर्ष्यालु कहते हैं।

(२) प्राकृतिक या अप्राकृतिक विषयवासना और भोगविलास में जो अत्यन्त आसक्त होता है।

(३) स्वार्थ या स्वार्थ बिना भी जो मृषावादी हो।

(४) मन, वचन और काया के व्यापार कुटिल हों।

(५) स्वभाव से हठाग्रही और जिद्दी हो।

(६) परस्त्री के प्रति गमन करने की भावनावाला हो।

ये छः प्रकार के जीव मात्र स्त्रीवेद नाम के मोहनीय कर्म को उपार्जन कर स्त्रीशरीरधारी बनते हैं। कोमल शरीर, मृदु आवाज, मंदगमन और स्त्री शरीर के संपूर्ण अंगोपांग प्राप्त होते हैं। स्त्रीवेद पाप कर्म के उदय से प्राप्त होता है इससे स्त्री के गुप्तस्थान, स्तनस्थान और गाल में तीव्र, मध्यम और अल्पशक्तिवाले कीड़े होते हैं। कंडे में आग लगते थोड़ी देर लगती है और बुझते भी बहुत देर लगती है इसी प्रकार स्त्रीवेद को उदय में आते थोड़ी देर लगती है।

"स्त्रियं वेदयति-मोहयति-मूढीकरोतीति स्त्रीवेदः।" पुरुषको भोगने की इच्छा जिसके मन में हो उसे स्त्रीवेद कहते हैं।

नपुंसकवेद :

(१) वर्तमान भव में पुरुष या स्त्रीशरीरधारी होने पर भी दूसरे पुरुष या स्त्री, बालक या बालिका के शरीर के साथ भोगविलास के मलिन भावों को धारणकर रात-दिन उन दोनों के साथ विषय-वासना सहित उसके भोगविलास में भूंड की तरह अत्यन्त आसक्त हो।

(२) बिना कारण या अल्प कारण से जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी कषाय सर्वथा प्रज्जवलित होते हो।

(३) खाते, पीते, सोते, उठते और चाहे जिसके साथ वार्तालाप करते मानसिक विचार काममय भावनावाले हो।

(४) साध्वी, सती, कुलिन कन्या आदि पवित्र स्त्रियों को लोभ तथा लालच देकर या स्वयं की वाक्पटुता में फँसाकर उनके शील को लूटने का प्रयत्न करनेवाले हों।

ये चार प्रकार के जीव अगले भव के लिए नपुंसकवेद को उपार्जन करते हैं। तथा उसको भुगतने के लिए निकृष्टतम नपुंसक लिंग धारण करते हैं। जिसमें थोड़े अंग पुरुष के और थोड़े स्त्री के होने से स्वयं के महापाप कर्म के उदय से न तो पुरुष को और न स्त्री को भोग सकते हैं। अत्यन्त गन्दी भावना और रात दिन घृणात्मक विचार बने रहते हैं।

भांग या शराब पीने के बाद उसका नशा धीरे-२ चढ़ता है और थोड़ा समय जाने के बाद उसका नशा स्वयं के पूर्ण स्वरूप में चढ़ता है और वापस धीरे २ उतरता है। अन्त में जीव स्वयं के मूल स्वरूप में आ जाता है।

उसी प्रकार के नशे को चरितार्थ करता हुआ पुरुषवेद या स्त्रीवेद कर्म का नशा भी पुरुष के या स्त्री के शरीर में बाल्यकाल व्यतीत होने के बाद युवावस्था के प्रारंभ में धीरे धीरे चढ़ने लगता है। जब पुरुष या स्त्री के अंग पूर्ण रूप से भोग कर्म के लायक बन जाते हैं तब वेदकर्म का नशा पूर्णरूप से चढ़ता है। उस समय पुरुष को स्त्री के शरीर का और स्त्री को पुरुष के शरीर का सहवास पसन्द आता है। जब दोनों को पूर्ण नशा चढ़ जाता है तब दोनों के शरीर एक होकर स्वयं की वासना पूर्ण होने पर उनका नशा समाप्त होता है और उस समय के लिए नशे का वेग कम होता है। इस तरह पुरुष वेद का मालिक स्त्रीभोग में आसक्त बनकर और स्त्रीवेद का मालिक पुरुषभोग में मस्त बनकर बारबार ज्ञानावरणीय आदि को बांधनेवाला होगा।

जिन भाग्यशाली जीवात्मा को गुरुकुलवास प्राप्त हुआ हो और स्वयं की अदम्य मोक्ष पुरुषार्थ की शक्ति का विकास साध लिया हो वे नररत्न या स्त्रीरत्न स्वयं की सत्ता में पड़े हुए मोहकर्म (वेदकर्म) का ज्ञानाभ्यास, एकान्तवास, ध्यानप्रक्रिया, छोटी-बड़ी तपस्या आदि सदनुष्ठान द्वारा उपशम करने के लिए भी समर्थ बन सकती है। अपूर्व सम्यग् ज्ञान द्वारा आत्मा को पुरुषार्थी बनाकर कुक्रिया का त्याग करता है।

सम्यग्दर्शन से पाप की भावनाओं का परिहार करता है और सम्यक्-

चरित्र द्वारा पाप की भावनाओं के द्वार बन्द करता है। ऐसी परिस्थिति में मोह को उपशम करके भाग्यशाली स्वयं के वेदकर्म को यथाशक्य स्वयं के आधीन करता हुआ उतने अंश में उस समय के लिए वह वेदरहित बनता है, उस समय अत्यन्त स्वरूपवान उर्वशी जैसी स्त्री और रूप के अवतार के समान युवापुरुष अनुकूल होते हुए भी स्वयं के जीवन में रत्तिमात्र पाप भावना उद्भव नहीं होती है। वेदकर्म को सर्वथा क्षय कर देने पर पुरुष का पुरुष शरीर और स्त्री का स्त्रीशरीर सर्वथा अकिंचित्कर बनने लगता है। उस समय वह नोपुरुष, नोस्त्री और नोनपुंसक कहलाता है और वह ज्ञानावरणादि कर्मों को बांधता नहीं है।

नवमें और दसमें गुणठाणे में ज्ञानावरणीय कर्म बांधता है क्योंकि इन स्थान के जीव छः या सात कर्मों के बंधक हैं। ११-१२-१३-१४ गुणस्थान के जीव ज्ञानावरणीय कर्म नहीं बांधते हैं क्योंकि वहां वह एक ही साता वेदनीय कर्म का बंधन होता है।

पूर्वभव से नपुंसक शरीर की उपार्जना करके नपुंसक योनी से जन्मा हुआ पुरुषार्थी जीव भी स्वयं के कर्मों को सर्वथा क्षय करने के लिए जब भाग्यशाली बनता है तब नपुंसकवेद बिना का वह नोनपुंसक भी ज्ञानावरणीयादि कर्मों को बांधते नहीं है।

आयुष्य कर्म को भी नोपुरुष, नोस्त्री और नोनपुंसक बांधते नहीं है। दूसरे बांधने के काल समय में बांधते हैं क्योंकि यह कर्म जीवन में एक ही बार बांधा जाता है।

नोसंयत, नोअसंयत और नोसंयतासंयत अर्थात् केवल ज्ञानी को ज्ञानावरणीयादि कर्म बांधने का एक भी कारण नहीं है जबकि सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्धि और सूक्ष्म संपराय ये चार संयत ज्ञानावरणीय कर्म बांधते हैं। यथाख्यात संयत उपशांत तथा क्षीणमोहवाला होने से इस कर्म को नहीं बांधता है। इस अपेक्षा से पहले के

चार संयमी भी कभी कर्म बांधते है और पांचवें संयमी कर्म नहीं बांधते हैं।

असंयमी और देशविरति संयमी कर्म बांधते हैं और आयुष्य भी बांधने के समय बांधते हैं।

मनःपर्याप्ति का स्वामी वीतराग हो तो कर्म बंधन नहीं करता जबकि सरागी कर्म बंधन करता है।

मनःपर्याप्ति बिना के असंज्ञी जीव तो निश्चय रूप से कर्मों को बांधने वाले होते है।

अयोगी और सिद्ध जीवों को छोड़कर बाकि सभी वेदनीय कर्म को बांधते हैं।

भवसिद्धिक यदि छद्मस्थ हो तो कर्म बंधन है। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन के स्वामी छद्मस्थ हो तो कर्मबंधन है और वीतराग हो तो शातावेदनीय को छोड़ दूसरे कर्मों का बंधन नहीं है।

भाषा लब्धि के मालिक भाषक वीतराग हो तो कर्म नहीं बांधते, दूसरे बांधते हैं।

नहीं बोलनेवाले अभाषक सिद्ध कर्म नहीं बांधते हैं परंतु पृथ्वीकायिक अभाषक कर्म बांधते हैं।

"सबसे कम पुरुषवेदक जीव है उससे संख्येय गुण स्त्रीवेदक है। अवेदक अनंत गुण है और नपुंसकवेदक अनंतगुण हैं।"

"इस तरह सभी भेदों को विचारना।" ※१०

※१० वेदकों का अल्प बहुत्व–संसार भर के अनंतानंत जीवों में पुरुषवेद में रहे हुए जीव सबसे कम है उससे स्त्रीवेद के जीव संख्यात गुण ज्यादा है। अवेदक अर्थात सिद्ध के जीव उससे अनंतगुण ज्यादा है और सिद्ध के जीव करते भी नपुसकवेद के जीव अनंतगुणा ज्यादा है।

प्रत्याख्यान और आयुष्य :

जीव तीन प्रकार के होते हैं :

प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी । अब इनकी व्याख्या को समझाते ।

प्रत्याख्यान शब्द व्याकरण की दृष्टि से [illegible] और आ[illegible] उपसर्गों से ख्यान धातु की [illegible] में 'ल्युट्' प्रत्यय लगाने से बना है ।

जीव अनादिकाल से मोह, माया, क्रोध, लोभ, मैथुन आदि कर्मों की वासना से वासित होने से उसके रोम रोम में पाप बसा रहता है । पाप की भावना भरी होने से माया के चक्कर में आकर या दूसरों के साथ अज्ञानवश गन्दे वातावरण में फंसकर प्रतिक्षण इस जीवात्मा की भी ऐसी ही मलिन भावनाएँ होती है । जैसे कि "मेरे पांव तो मूल में से ही उखेड़ डालूंगा । जरा भी मेरे सामने आया तो मुझे जेल में भेजकर मेरे बाल-बच्चों को गली-गली में भूखे मरते हुए कर देगा । तू चाहे जितनी धमाल करे तो भी मैं परस्त्री के तो पास जाऊंगा । भले ही मैं नर्क में जाऊं, पर अच्छी कमाई होवे ऐसे धंधे, व्याजवट्टा, झूंठ नापतोल का व्यापार मेरे से छूटेगा नहीं।"

ऐसी बुरी भावनाओं में जिसका मन प्रतिक्षण डुबकी मारकर बैठा रहता है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान में ही संपूर्ण जीवन पूर्ण होता हो। बार बार किये हुए पापों की गठड़ी से बहुत ही भारी बना हुआ हो ऐसा जीव अनंत संसार में (Play Ground) 'प्ले ग्राउन्ड' के फुटबाल की तरह भटकता रहता है ।

बबूल के बीज जैसे बबूल के झाड़ तथा कांटों को ही उत्पन्न करता है उसी प्रकार से पूर्वभव की वासना इस भव में भी साथ में आने के कारण सारा जीवन पेट भरने के लिए, मकान, भोगविलास और धन इकट्ठा करने में ही पूर्ण होता है । शहद की मक्खी जिस तरह शहद में से बाहर नहीं

निकल सकती है। उसी प्रकार माया तथा वासनारूपी शहद में से यह जीव भी सत्कर्म के मार्ग पर नहीं आ सकता है। आता भी है तो स्थिर नहीं रह सकता है और कभी स्थिर रहने का प्रयत्न भी करे तो कामदेव नाम का गुंडा, क्रोध रूपी भूत, मानरूपी अजगर, मायारूपी नागिन और लोभ नाम का राक्षस जीव के चारों तरफ चक्कर लगाता रहता है तथा जीव को वापिस माया के चक्कर में धकेल देता है।

जीव की ऐसी स्थिति होने पर भी राधावेध की तरह किसी क्षण संसार के दुःखो से दुःखी होकर थोड़ी पुरुषार्थ शक्ति का संचय करता है। तब सबसे पहले पापों के द्वार को बंद करने का प्रयत्न करता है और सबल पुरुषार्थ के द्वारा स्वाध्याय और तपस्या का आश्रय लेता है,

तब आत्मा में सम्यग्ज्ञान का प्रकाश धीरे धीरे बढ़ता है, और उस प्रकाश में अज्ञान का अंधकार, मिथ्याज्ञान का भ्रमजाल पदार्थज्ञान की विपरीतता के साथ संशयज्ञान भी चला जाता है और निश्चयात्मक, यथार्थ, स्वपर प्रकाशक ज्ञान प्राप्त होते ही संसार तथा उसकी माया पापोत्पादक, पापवर्धक, पापफलक और पापपरंपरक जैसी लगते ही उस भव्यात्मा के पापों की प्रवृत्ति के त्याग की भावना आगे बढ़ती है और पापों का द्वार सर्वथा बंद करने के लिए सर्वविति धर्म, समितिगुप्ति धर्म; निर्ग्रन्थ धर्म स्वीकार करने के लिए पूर्णरूप से तैयार होता है।

पापों के मार्ग पर प्रस्थान किया हुआ और पापों का आख्यान (कथन) की प्रवृत्ति करनेवाला आत्मा एक दिन प्रति-आख्यान अर्थात करे हुए, कराये, हुए और अनुमोदना के पापों से 'प्रति' वापस लौटता है। उसको भगवती सूत्रकार ने 'प्रत्याख्यान धर्म' कहा है।

सामने के शत्रु की व्यूह रचना, शस्त्र सामग्री, सैनिकों की वीर शक्ति और उनका उत्साह देखने के बाद युद्ध का आह्वान करने में आता है। उसी प्रकार आत्मा के प्रबल शत्रु पापस्थानक की पहचान, उनकी शक्ती मोहराजा के सैनिकों की चालबाजी, इन्द्रियों के भोग विलास में आत्मा को फंसाने

की अद्भुत शक्ति का माप निकालना और उनके भयंकर मायाजाल को समझने के लिए आत्मा की तैयारी को सूत्रकार ने "ज्ञ-परिज्ञा" रूप में बताया है। मोहराजा की संपूर्ण मायाजाल को तोड़ डालने के लिए आत्मा के प्रबल पुरुषार्थ को 'प्रत्याख्यान परिज्ञा' रूप में बताया है। इस तरह 'ज्ञ-परिज्ञा' से पापों को जानने तथा 'प्रत्याख्यान परिज्ञा' से छोड़ने यह प्रत्याख्यान धर्म सर्व-विरति धर्म है।

ऐसा उत्कृष्ट धर्म ८४ लाख जीव योनी के जीवों में से केवल १४ लाख मनुष्य योनि में जन्मे हुए मनुष्य ही स्वीकार कर सकते हैं।

उसमें भी अल्प कषायी होनेपर भी भोग-विलास में पूर्ण मस्त बने हुए युगलिक मानव तथा संमूर्च्छिम मानव को तथा अपर्याप्त मानव के भाग्य में धर्म नहीं है।

अनार्य जाति में जन्मे हुए के अनार्य संस्कार, म्लेच्छ कुल में जन्मे हुए के म्लेच्छ संस्कार, हिंसक जातिवालों के हिंसक संस्कार यदि नियन्त्रण में नहीं आये हो तो उनको भी महाव्रत प्राप्त नहीं हो सकता है।

अब उच्च खानदान, आर्यकुल, आर्यजाति वैसे ही शरीर के अंगोपांग सुंदर प्राप्त होनेपर भी स्वयं के आर्य संस्कारों को जिसने पाले नहीं हो उनको भी जैन धर्म प्राप्त नहीं हो सकता है। शायद कुल को लेकर जैन जरूर गिनायेगा परन्तु जैन धर्म के मूल प्राण "जैनत्व" से तो उसकी आत्मा हजारों मील दूर रहेगी।

चार निकाय के सम्यग् दृष्टि देवों की तीर्थंकर पर संपूर्ण श्रद्धा होनेपर भी महाव्रत या अणुव्रत स्वीकारने में समर्थ नहीं होते हैं। इसीलिए प्रत्याख्यान धर्म-महाव्रत धर्म की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है।

स्कूल में विद्यार्थियों की कक्षा एक समान नहीं होती उसी प्रकार संसार के जीवों की शक्ति भी एक समान नहीं होती है। श्रद्धा और भावना में थोड़ी कमी होने से दूसरे नम्बर के जीव प्रत्याख्यानाऽप्रत्याख्यान

अर्थात् सर्व पापों की निवृत्ति भी नहीं कर सकते उसी प्रकार सर्व निरर्थक पापों के द्वार खुले रखने की भावनावाले भी नहीं होते इसलिए उनको देशविरति धर्म, श्रावक धर्म, विरताविरत धर्म, संयतासंयत धर्म और प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यान धर्म का उदय आता है। स्वयं के जीवन में अप्रत्याख्यान कषाय ऊपर थोड़े अंश में या सर्वांश में संयम लाता है तब श्रावक धर्म की प्राप्ति होती है। उस समय महापाप नहीं करने की भावना उत्पन्न होते ही ज्ञानपूर्वक गुरु के सन्मुख श्रावक धर्म अर्थात् सम्यक्त्वपूर्वक बारह व्रत को स्वीकारता है और श्रद्धा से उसका पालन करता है।

महाव्रतधारी और देशविरति को छोड़कर बाकि के सभी जीव अप्रत्याख्यानी होते हैं। उनको पाप का ख्याल और उसे छोड़ने की भावना भी नहीं होती है। वह संसार की माया के वश होकर छोड़ नहीं सकता है।

इसप्रकार पापों के सेवन में, सेवने की भावना में, भोगे हुए भोग की स्मृति में और भविष्य में भी अर्थ और काम को भोगने की लालसा में ही उनका पूरा जीवन व्यतीत होता है।

महावीर स्वामी के जीवन के प्रति जिसको श्रद्धा हो, तथा श्रद्धा के बल से जैन धर्म की मान्यता में विवेक प्रगटा हो तो महाव्रत या बारह व्रत स्वीकार कर स्वयं के मानव जीवन को सफल बनाने के लिए प्रयत्न करना चाहिये यही एक सच्चा मार्ग है।

जिसके जीवन में जैन धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा नहीं, जैनत्व प्राप्त करने की लेशमात्र भी तमन्ना नहीं, अहिंसा धर्म का राग नहीं। हिंसा पाप आदि छोड़ने की भावना नहीं, दुर्जनों के सहवास में आनंद आता है, सज्जनों का द्वेषी है ऐसे मिथ्यात्व के गहन अंधकार में और सम्यक्त्व से भ्रष्ट हुए जीवों में अविरति, कषाय, प्रमाद और योगवक्रता निश्चय रहनेवाले हैं। इसलिए ऐसे मिथ्यात्व में रही हुई आत्मा भवान्तर के लिए जब आयुष्य बांधेगी तब नरक गति, स्थावरगति और विकलेन्द्रिय का ही आयुष्य बांधेगी जहां अप्रत्याख्यान अर्थात् अविरति धर्म ही रहेगा।

८४ लाख जीवयोनियों में से ८० लाख [illegible] कारण से ही ऐसा स्थान प्राप्त करते हैं ।

॥ चौथा उद्देशक समाप्त ॥

शतक छठा उद्देशक–५

तमस्काय :

इस उद्देशक में तमस्काय, कृष्णराजीओं और लोकांतिक देव सम्बन्धी विवरण है ।

सार यह है—तमस्काय यह पानीतमस्काय कहलाता है । यह तमस्काय जम्बूद्वीप की बाहर तीर्छे असंख्य द्वीप समुद्रों को पार करने के बाद, अरुणवर द्वीप की बाहर अरुणोदय समुद्र के ४२ हजार योजन को पार करें तब उपरितन जलांत आता है उसके एक प्रदेश की श्रेणी से तमस्काय समुत्थित है ।

तमस्काय का आकार कोड़ी के नीचे के भाग जैसा और ऊपर से कूकड़े के पिंजड़े के समान है।

तमस्काय दो प्रकार के है (१) संख्येय विस्तृत और (२) असंख्येय विस्तृत। पहला संख्येय योजन सहस्र है और दूसरा असंख्येय योजन सहस्र के विष्कंभवाला है।

तमस्काय में बड़े मेघ संस्वेद होते है और बरसते हैं। यह क्रिया देव, असुर और नागकुमार भी करते हैं। तमस्काय में बादर स्तनित शब्द और बिजली है उसको भी देव, असुर और नागकुमार करते हैं।

तमस्काय का वर्ण महाकाला है। उसके १३ नाम हैं—(१) तम (२ तमस्काय (३) अंधकार (४) महा अन्धकार (५) लोकांधकार (६) लोक-तमिस्र (७) देवांधकार (८) देव तमिस्र (९) देवारण्य (१०) देवसमूह (११) देव परिघ (१२) देव प्रतिक्षोभ (१३) अरुणोदक समुद्र।

तमस्काय यह पानी का परिणाम है, जीव का परिणाम है और पुद्गल का परिणाम भी है।

इस तमस्काय में सर्व प्राण, भूत, जीव, सत्त्व, पृथ्वीकाय के रुप में यावत् त्रसकाय रुप में अनेक बार तथा अनंतबार उत्पन्न हुए है परन्तु बादर पृथ्वीकाय रुप में और बादर अग्निकाय रुप में उत्पन्न नहीं हुवें।

कृष्णराजीर्ओः—इसी प्रकार विस्तार से कृष्ण राजी के सम्बन्धी प्रश्न हैं।

कृष्णराजी आठ हैं वह सनत्कुमार, महेन्द्रकल्प में और नीचे ब्रह्म-लोक कल्प में आरिष्ट विमान के पाथड़े में हैं। उसका आयाम असंख्येय योजन सहस्र, विष्कंभ संख्येय योजन सहस्र और परिक्षेप असंख्येय योजन सहस्र है।

इन कृष्णराजीयों में महामेघों का संस्वेदन होता है, संमूर्छित होते हैं

और वर्षा बरसती है। यह किया देव करते हैं, असुर या नाग नहीं करते। ये कृष्णराजी रंग से महाकाली हैं।

उसके नाम—कृष्णराजी, मेघराजी, मघा, माघवती, वातपरिघा, वातपरिक्षोभा, देवपरिघा और देवपरिक्षोभा यह आठ हैं।

कृष्णराजी यह पृथ्वी का परिणाम है, जीव और पुद्गल का भी परिणाम है।

कृष्णराजी में अनेकबार तथा अनंतबार प्राण, भूत, जीव, सत्त्व उत्पन्न हुए हैं परन्तु बादर—अपकाय, बादर अग्निकाय और बादर वनस्पतिकाय के रूप में उत्पन्न नहीं हुए।

इन आठ कृष्णराजीयों के आठ अवकाशान्तर में आठ लोकांतिक विमान हैं उनके नाम ये हैं—अर्ची, अर्चीमाली, वैरोचन, प्रभंकर, चन्द्राभ, सूर्याभ, शुक्राभ और सुप्रतिष्ठाभ यह आठ हैं।

उत्तरपूर्व के बीच में अर्ची, पूर्व में अर्चीमाली, बहुमध्य भाग में रिष्ट विमान है। ऐसे भिन्न–भिन्न दिशा में दूसरे जानना। उसमें आठ जात के लोकांतिक देव रहते हैं। यह इस प्रकार—सारस्वत, आदित्य, वह्नि, वरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और आग्नेय। मध्य में रिष्ट देव है।

सारस्वतदेव अर्ची विमान में, आदित्यदेव अर्चीमाली में इस तरह अनुक्रम से जानना।

लोकांतिक विमान वायु प्रतिष्ठित अर्थात् वायु के आधार पर हैं।

इन विमानोंसम्बन्धी सारा विवरण 'जीवाभिगम' सूत्र के देव उद्देशक में कहा हुआ है। ब्रह्मलोक की वक्तव्यता के प्रमाण से जानना।

लोकांतिक विमान की आठ सागरोपम की स्थिति है।

लोकांतिक विमान से असंख्य हजार योजनों के पश्चात् लोकांत आता है। ❖ १३

❖१३ तमस्काय किसको कहते है ?

गाढ़ अन्धकार की राशि को तमस्काय कहते हैं। यहाँ किसी खास तमस्काय की विवक्षा होने से वह पृथ्वीरज का स्कंध या पानी रज का स्कंध हो सकता है। पानी रज का स्कंध अप्रकाशी होने से और तमस्काय भी अप्रकाशी होने से यह प्रस्तुत तमस्काय पानी रज का स्कंध ही है। इसमें बादर पृथ्वीकाय और बादर अग्निकाय नहीं होते हैं क्योंकि पृथ्वीकाय तो रत्नप्रभादि आठों पृथ्वी में, गिरिओ में और विमानों में ही होता है और अग्निकाय केवल मनुष्य लोक में ही होने से इन दोनों का तमस्काय में निषेध है।

यह तमस्काय भयानक काला रंग का होने से देव भी डर के कारण वहाँ जाने को तैयार नहीं होते हैं कभी जाय तो अत्यन्त शीघ्र गति से उसे पारकर वापिस लौट जाते हैं।

तमस्काय के पर्याय :

(१) तम-अंधकार रूप में होने से।

(२) तमस्काय-अंधकार के समूह रूप में होने से।

(३) अंधकार-तमोरूप होने से।

(४) महाअंधकार-महातमोरूप होने से।

(५) लोकांधकार, लोकतमिस्त्र-लोक में इसप्रकार का दूसरा अंधकार नहीं होने से।

(६) देवांधकार, देवतमिस्त्र-उद्योत का अभाव होने से देव को भी अन्धकार रूप होता है।

(७) देवाटव्य-बलवानदेव को भी भय लगे, ऐसा होने से।

(८) देवव्यूह-देवको भी दुर्भेद्य होता है।

(९) देवपरिघ—देव को भी भयोत्पादक होने से उनके गमन के लिए विघात रूप होने से।

(१०) देवप्रतिक्षोभ—देव को क्षोभ का कारण है।

(११) अरुणोदकसमुद्र--अरुणोदक समुद्र का विकार होता है।

ऐसे तमस्काय में बादर वायुकाय, बादर वनस्पतिकाय और त्रस जीव उत्पन्न होते हैं। शेष जीव का वहाँ स्थान नहीं है।

वायु और वनस्पतिकाय की उत्पत्ति अप्काय में संभवित हैं।

॥ पांचवा उद्देशक समाप्त ॥
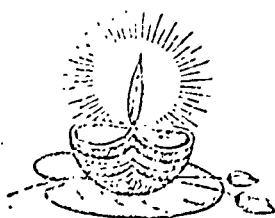
शतक छठा उद्देशक—६

मारणान्तिक समुद्घाती की आहारादि

इस प्रकरण में मुख्य दो बातें हैं। पृथ्वीयां, पांच अनुत्तर विमान तथा मारणान्तिक समुद्घात, जिसका सार यह है :—

पृथ्वी सात हैं रत्नप्रभादि, विजयादि और पांच अनुत्तर विमान सम्बन्धी विवरण पहले आ चुका है। अब मारणान्तिक समुद्घात से समवहत हुए जीवसम्बन्धी विवरण है। सार यह है :—

मारणान्तिक समुद्घात से समवहत हुआ निरयावासी कोई जीव भी निरयावास में जाय तो ऐसे समुद्घात करनेवाले जीव वहाँ जाकर ही आहार करते हैं। तथा शरीर बनाते हैं। कोई जीव वहाँ से वापिस यहाँ आकर फिर से मारणान्तिक समुद्घात से समवहत होकर किसी एक निरयावास में उत्पन्न होकर आहार करता है तथा शरीर बनाता है।

असुरकुमार में भी उत्पन्न होनेवाले के लिए ये दो भेद जानना—

मारणान्तिक समुद्घात द्वारा समवहत होकर पृथ्वीकाय के आवासों के किसी में भी उत्पन्न होनेवाले हो तो ज्यादा लोकांत तक जाते हैं। वहां जाकर आहार करने में परिणत करने में और शरीर बनाने में उन जीवों के उपरोक्त ही दो भेद हैं। कितने ही वहां जाकर आहार करते हैं और कितने ही वापिस आकर फिर से समुद्घात द्वारा पृथ्वीकाय के किसी आवास में पृथ्वीकाय के रूप में जन्मकर आहार करते हैं।

दो इन्द्रियों के आकाश में भी उत्पन्न होनेवाले के लिए, नैरयिकों की तरह जानना और इसी प्रकार पांच अनुत्तर विमान का और किसी में उत्पन्न होनेवाला हो तो भी ऐसा ही समझना। ३-१४

३-१४ मरण समुद्घात :

अनन्त पुण्यराशि के द्वारा लगभग मनुष्य जैसे महापुरुषों को छोड़कर दूसरे सभी के लिए मृत्यु की अवस्था अत्यन्त दुःखदायी होती है क्योंकि जीवनभर के कर्मों का चित्रण चित्रपट के समान मृत्यु शय्यापर पड़े हुए मनुष्य के सामने प्रत्यक्ष हो जाता है।

बाल्यकाल की अज्ञानदशा में तथा गधा पचीसी के समान युवावस्था में तथा आर्तध्यान और रौद्रध्यान उत्पन्न करानेवाली प्रौढावस्था में जो कुछ अशुभ कर्म किए हो, वे सभी एक के बाद एक याद आते हैं। अपना जीव बीत गये क्षणों के लिए भयंकर अफसोस व पश्चाताप करता हुआ सर्वथा असह्य मानसिक वेदनाओं को भुगतता है।

ऋषि महर्षि कहते हैं--उस समय की वेदना इतनी ज्यादा तीव्र होती है कि बोलने की इच्छा होनेपर भी बोल नहीं सकता है, परिवार को कुछ कहने की इच्छा होनेपर भी कह नहीं सकता है, एक दूसरे के सामने एकटक आँखे फाड़कर देखता है, चारों तरफ बिखरी हुई स्वयं की माया को टुकर टुकर देखता है तथा आँखों में से पानी बहाता जाता है।

असह्य वेदनाएं जब अधिक बढ़ जाती है तो सन्निपात में आये हुए जीव की वेदना को केवली भगवान के सिवाय कोई जान नहीं सकता है। मरने वाले को मालूम हो गया हो कि मेरा जीवन दीप बुझ रहा है ऐसी स्थिति में लाचार बनी हुई आत्मा को संसार का कोई भी मनुष्य दुःख मुक्त नहीं कर सकता है।

कर्मों की तीव्रता हो और वेदना असह्य बन गई हो तब उस अवस्था

को 'मरण–समुद्घात' कहते हैं। भवान्तर के लिए वैसी जैसा आयुष्यकर्म न बांधा हो तो मृत्यु समय भी बांधना ही पड़ता है इसके बिना छुटकारा नहीं है। इसी से ही मरते हुए बहुत से जीवों को अपन देखते हैं कि जीवन दीपक बुझने के समय पर ही क्षणभर के लिए सांस अवरोध होता है और आसपासवाले सोच लेते हैं कि भाई मर गये हैं और थोड़े से समय में ही श्वास वापिस चलने लगता है उस समय अपनी पहले की मान्यता झूठी हो जाती है पर ऐसा होता जरूर है।

केवली भगवंत के शासन के आधार–से अपने को मालूम पड़ती है। कि, आयुष्यकर्म का उपार्जन करने के बाद स्वयं को जहाँ जन्म लेना है उस स्थान को आत्मा मरण समुद्घात द्वारा देख आती है और वापिस मूल शरीर में आकर अशाता को भुगतते इस भव का अन्तिम सांस पूर्ण करके जहाँ जन्म लेना है वहाँ उसी समय या चार समय में पहुँच जाती है। वहाँ आहार ग्रहण करके भोजन को पचाती हुई यह आत्मा शरीर का निर्माण करती है।

इस भव की माया को छोड़ने की इच्छा न होनेपर भी छोड़नी पड़ती है और आगे दूसरे भव की माया का श्रीगणेश हो जाता है। कर्मसत्ता के सामने सर्वथा रांक बनी हुई आत्मा स्वयं परवश बनकर कर्मों का नाटक करती है।

महान पुण्योदय के योग से मिले मनुष्य भव में इस संसार की माया चिकनी भूमि के समान होती है, जैसे कि बिना परिश्रम करोड़पति होने की भावनावाला मनुष्य बम्बई के सट्टाबाजार में आता है। पहले तो चिकनी भूमि जैसा यह सट्टाबाजार थोड़ा फायदा करता है और बाद में तो–शकुनि के साथ जुआं खेलने के लिए बैठा युधिष्ठिर एक के बाद एक दाव हारता जाता है वैसे आत्मा भी दुर्बुद्धि वश, असद् विवेक का स्वामी बनकर समुद्र के पानी के एक बूंद के जितना प्राप्त करता है और बहुत हार जाता है।

८ वालाग्र	१ लिक्षा
८ लिक्षा	१ यूका (जु)
८ यूका	१ जव मध्य
८ जवमध्य	१ अंगुल
६ अंगुल	१ पाद
१२ अंगुल	१ वेंत
२४ अंगुल	१ हाथ
४८ अंगुल	१ कुक्षि
९६ अंगुल	१ दंड धनुष्य युगनालिका
२००० धनुष्य	१ गाऊ (कोस)
४ गाऊ (कोस)	१ योजन

इसके आगे का कोष्टक दूसरी जगह पर दिया है।

॥ सातवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक छठा उद्देशक—८

पृथ्वी के नीचे क्या है ?

इस प्रकरण में पृथ्वी के नीचे क्या है ? आयुष्य के बंध का प्रकार, लवण समुद्र का स्वभाव आदि विवरण है ? सार यह है :–

यहां पृथ्वी की संख्या आठ की बतायी है। रत्नप्रभा से लेकर इषत् प्राग्भारा। रत्नप्रभा के नीचे गृह और गृहापन, ग्रामों या सन्निवेश बादर, अग्निकाय, चन्द्र तारे तथा चन्द्र का प्रकाश या सूर्य का प्रकाश नहीं है परन्तु बड़े मेघ बनते हैं, संमूर्छते हैं और बरसात बरसती है बादर स्तनित शब्द है और यह क्रिया देव; असुर या नाग करते हैं ।

दूसरी तथा तीसरी पृथ्वी में भी ऐसा ही है अन्तर इतना है कि तीसरी पृथ्वी के ऊपर की क्रिया देव करते हैं, असुर करते हैं परन्तु नाग नहीं करते हैं। चौथी पृथ्वी में अकेले देव करते हैं इसप्रकार सभी नीचे की पृथ्वी में समझना है।

सौधर्म और ईशान कल्प के नीचे गृह या गृहापन नहीं है पर महामेघ है। इन मेघ को देव या असुर करते हैं। इसी तरह स्तनित शब्द के लिए भी जानना। वहां बादर पृथ्वीकाय या बादर अग्निकाय नहीं है तथा चन्द्र, ग्राम आदि नहीं है।

ऐसा ही सनत्कुमार और महेन्द्र देवलोक में भी जानना विशेष यह कि वहां अकेले देव करते हैं। ऐसा ही ब्रह्मलोक में और ब्रह्मलोक के ऊपर जानना।

आयुष्य बन्ध का प्रकार :

आयुष्य का बंध छः प्रकार से है—

(१) जातिनाम निधत्तायु। (२) गतिनाम निधत्तायु। (३) स्थितिनाम निधत्तायु (४) अवगाहना नाम निधत्तायु (५) प्रदेशनाम निधत्तायु (६) अनुभाग नाम निधत्तायु।

जीव उपरोक्त आयुष्यवाले होते हैं इसपर थोड़े प्रश्नोत्तर हैं परन्तु करीब समान ही है। भावार्थ यह कि जीव जातिनाम निधत्त है। यावत अनुभागनाम निधत्तायुष है। ये बारह दंडक हैं।

लवण समुद्र का स्वभाव :

लवण समुद्र उछलता हुआ पानीवाला, तथा क्षुब्ध पानीवाला है पर समजलवाला या अक्षुब्ध पानीवाला नहीं है। (इस सम्बन्धी जीवाभिगम सूत्र में विशेष कहा है)। बहार के समुद्र पूर्ण, पूर्ण प्रमाणवाले और समभर घट रूप में रहते हैं। संस्थान से एक प्रकार के स्वरूपवाले, विस्तार से अनेक प्रकार के स्वभाववाले, द्विगुण प्रमाण। यहां तक कि तिर्यग्लोक में असंख्य द्वीप समुद्र, स्वयंभूरमण समुद्र पर्यंत कहे हैं।

इन द्वीप समुद्र के नाम, लोक में जितने शुभनाम, शुभरूप, शुभगंध, शुभरस, शुभस्पर्श है इतने है, इतने शुभनाम द्वीप समुद्र के है। इस प्रकार उद्धार, परिणाम और उत्पाद जानना।

॥ आठवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक छठा उद्देशक—९

कर्म तथा देव का विकुर्वण :

इस प्रकरण में कर्म और जीव, देव की विकुर्वण शक्ति और दूसरे देव को जानना तथा देखना यह विवरण है। सार यह है—

ज्ञानावरणीय कर्म को बांधता हुआ जीव छः, सात और आठ प्रकार से कर्मों को बांधता है। (यहां प्रज्ञापना सूत्र का बंध उद्देशक जानना)

महर्धिक देव बहार के पुद्गलों को ग्रहणकर एक वर्णवाला, एक आकारवाला स्व-शरीर आदि का विकुर्वण करने में समर्थ है। देवलोक में रहे हुए पुद्गलों को ग्रहण करके विकुर्वण करते हैं। इस तरह (१) एक वर्णवाला एक आकार को (२) एक वर्णवाला अनेक आकार को (३) अनेक वर्णवाला एक आकार को अनेक वर्णवाला अनेक आकार के विकुर्वण करने में समर्थ होते हैं।

इसी प्रकार काले पुद्गल को नीलपुद्गल में और नील पुद्गल को काले पुद्गल में परिवर्तित करने में भी बहार के पुद्गल का ग्रहण करना ही चाहिए।

रंग के परिवर्तन के समान ही गंध, रस, स्पर्श के परिवर्तन के लिए गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि परिवर्तन के लिए भी जानना। बहार के पुद्गल को ग्रहण करके कर सकते हैं।

(१) अविशुद्ध लेश्यावाला अनुपयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्ध लेश्यावाले देव आदि को जानते और देखते हैं।

(२) अविशुद्ध लेश्यावाला अनुपयुक्त आत्मा द्वारा विशुद्ध लेश्यावाले देव आदि को जानते और देखते हैं।

(३) अविशुद्ध लेश्यावाला उपयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्ध लेश्यावाले देव आदि को जानते और देखते हैं।

(४) अविशुद्ध लेश्यावाला उपयुक्त आत्मा द्वारा विशुद्ध लेश्यावाले देव आदि को जानते और देखते हैं।

(५) अविशुद्ध लेश्यावाला उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्ध लेश्यावाले देव आदि को जानते और देखते हैं।

(६) अविशुद्ध लेश्यावाला उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा द्वारा विशुद्ध लेश्यावाले देव आदि को जानते और देखते हैं।

(७) विशुद्ध लेश्यावाला अनुपयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्ध लेश्यावाले देव आदि को जानते और देखते हैं।

(८) विशुद्ध लेश्यावाला अनुपयुक्त आत्मा द्वारा विशुद्ध लेश्यावाले देव को जानते और देखते हैं।

(९) विशुद्ध लेश्यावाला उपयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्ध लेश्यावाले देव को जानते और देखते हैं।

(१०) विशुद्ध लेश्यावाला उपयुक्त आत्मा द्वारा विशुद्ध लेश्यावाले देव को जानते और देखते हैं।

(११) विशुद्ध लेश्यावाला उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा द्वारा अविशुद्ध लेश्यावाले देव आदि को जानते और देखते हैं।

(१२) विशुद्ध लेश्यावाला उपयुक्तानुपयुक्त आत्मा द्वारा विशुद्ध लेश्यावाले देव आदि को जानता और देखते हैं।

॥ नौवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक छठा उद्देशक—१०

जीव :

इस उद्देशक में जीवों का सुख दुःख, जीव का प्राणधारण, भव्यत्व एकान्त दुःख वेदन, आत्मा द्वारा पुद्गलों का ग्रहण और केवली यह विवरण है। सार यह है:—

कोई कहते हैं कि राजगृह में जितने जीव हैं उतने जीवों का बेर की गुठली, वाल, चावल, उड़द, मूंग, जूं और लीख जितना भी सुख दुःख को निकालकर बतलाने में समर्थ नहीं है परन्तु महावीर स्वामी कहते है कि सर्वलोक के सभी जीवों के सुख दुःख को निकालकर बतलाने में कोई भी समर्थ नही हैं।

जीव निश्चय चैतन्य स्वरुपी है और चैतन्य भी निश्चय जीव हैं।

नैरयिक निश्चय जीव है पर जीव तो नैरयिक भी होते अनैरयिक भी होते हैं। असुरकुमार नियम से जीव है। जीव असुरकुमार भी होते और न भी होते। ऐसा ही वैमानिक तक जानना।

प्राणधारण करे वह नियम से जीव कहलाता है पर जो जीव हो वह प्राण धारण करे या न भी करे, नैरयिक निश्चय से प्राण धारण करते है। पर प्राण धारण करनेवाला नैरयिक भी हो और अनैरयिक भी हो सकता है। ऐसा वैमानिक तक जानना।

सुख दुःख का अनुभव :

भवसिद्धिक भव्य नैरयिक भी होते हैं और अनैरयिक भी होते।

नैरयिक भवसिद्धिक भी होते और अभवसिद्धिक भी होते। ऐसा वैमानिक तक जानना।

कितने ही ऐसा कहते हैं कि सर्व प्राण, भूत, जीव, सत्त्व एकांत दुःखरूप वेदना भुगतते हैं यह असत्य है। कितने ही प्राण, भूत, जीव, सत्त्व एकान्त दुःखरूप वेदना वेदते हैं और शायद सुख को भी वेदते हैं। कितने ही एकांत सुखरूप वेदना को वेदते हैं और शायद दुःख को वेदते हैं। कितने ही विविध प्रकार से वेदना वेदते हैं अर्थात् कभी सुख को वेदते हैं कभी दुःख को वेदते हैं। पहली कोटी मे नैरयिक हैं, दूसरी कोटी में भवनपति वानव्यंतर से ज्योतिष्क और वैमानिक हैं। तीसरी कोटी में पृथ्वीकाय से लेकर मनुष्य तक के जीव आ जाते हैं।

नैरयिक आत्मशरीर क्षेत्रावगाढ पुद्गलों को आत्मा द्वारा ग्रहणकर आहार करते हैं। वे अनंतर क्षेत्रावगाढ पुद्गलों को आत्मा द्वारा ग्रहण कर आहारते नहीं हैं वैसे ही परम्परा क्षेत्रावगाढ पुद्गलों को आत्मा द्वारा ग्रहणकर आहारते नहीं हैं। ऐसा ही वैमानिक तक जानना।

केवली भगवान सर्वत्र मित अमित सब जानते हैं। इन्द्रियों के द्वारा जानते तथा देखते नहीं हैं पर ज्ञान से जानते और देखते हैं। केवली का दर्शन निवृंत हैं।

॥ दसवां उद्देशक समाप्त ॥

"समाप्ति वचन"

जगत्पूज्य, शास्त्र विशारद, जैनाचार्य, स्व. १००८ श्री विजयधर्म सूरीश्वरजी महाराज के शिष्य शासन दीपक, महान लेखक, वक्ता, कवि, संगीतकार स्व. श्री विद्याविजयजी महाराज जिन्दगी के अंतिम क्षण तक शासन की सेवा और समाज की चिन्ता में मग्न थे।

संस्थाओं के संचालन में पूर्ण मस्त होनेपर भी भगवतीसूत्र के छः शतक तक लिखने का कार्य कर पाये। वे आगम के भी ज्ञाता थे। पांच शतक तक प्रथम भाग प्रकाशित हो गया है जबकि दूसरे भाग में छठे शतक का उनके शिष्य पंन्यास श्री पूर्णानंदविजय (कुमार श्रमण) महाराज ने अपनी अल्पमति के अनुसार यथाशक्य विवेचन करके यह शतक पूर्ण किया है।

॥ सर्वे जीवाः सुखिनः सन्तु ॥

॥ छठा शतक समाप्त ॥

नैरयिक भवसिद्धिक भी होते और अभवसिद्धिक भी होते। ऐसा वैमानिक तक जानना।

कितने ही ऐसा कहते हैं कि सब प्राण, भूत, जीव, सत्व एकांत दुःखरूप वेदना भुगतते हैं यह असत्य है। कितने ही प्राण, भूत, जीव, सत्व एकान्त दुःखरूप वेदना वेदते हैं और आगत सुख को भी वेदते हैं। कितने ही एकांत सुखरूप वेदना को वेदते हैं और आगत दुःख को वेदते हैं। कितने ही विविध प्रकार से वेदना वेदते हैं अर्थात कभी सुख को वेदते हैं कभी दुःख को वेदते हैं। पहली कोटी में नैरयिक हैं, दूसरी कोटी में भवनपति वानव्यन्तर से ज्योतिष्क और वैमानिक हैं। तीसरी कोटी में पृथ्वीकाय से लेकर मनुष्य तक के जीव आ जाते हैं।

नैरयिक आत्मशरीर क्षेत्रावगाढ़ पुद्गलों को आत्मा द्वारा ग्रहणकर आहार करते हैं। वे अनंतर क्षेत्रावगाढ़ पुद्गलों को आत्मा द्वारा ग्रहण कर आहारते नहीं हैं वैसे ही परम्परा क्षेत्रावगाढ़ पुद्गलों को आत्मा द्वारा ग्रहणकर आहारते नहीं हैं। ऐसा ही वैमानिक तक जानना।

केवली भगवान सर्वत्र मित अमित सब जानते हैं। इन्द्रियों के द्वारा जानते तथा देखते नहीं हैं पर ज्ञान से जानते और देखते हैं। केवली का दर्शन निर्वृत है।

॥ दसवां उद्देशक समाप्त ॥

कभी किसी भाग्यशाली को इतनी माया भी न हो तो उसमें लोभ का दर्शन होगा। "मैं ट्रस्टी हूँ। मेरा हक आगे बैठने का है। प्रतिक्रमण में भी हवावाली खिड़की के पास बैठूंगा। अमुक सूत्र बोलने के लिए साधु महाराज को आदेश देना ही पड़ेगा। इस तरह सत्ता में पड़ा हुआ लोभ स्पष्ट नजर आता है अतः भगवतीसूत्र में कहा है कि–श्रमणोपासक को सांपरायिक क्रिया ही होती है।

कषाय भाव ही आत्मा के अधिकरण हैं। जैसे तलवार, बंदूक, छुरी लकड़ी, कलम, जीभ आदि शस्त्र द्रव्य अधिकरण कहलाते हैं क्योंकि इनसे द्रव्य हिंसा होती है जबकि कषायों से भाव हिंसा होती है भाव हिंसा से आत्मा के गुण दया, सरलता, नम्रता का नाश होता है। द्रव्य हिंसा करते भाव हिंसा अति भयंकर होती है।

इतना स्पष्ट ज्ञान होने के बाद श्रमणोपासक श्रावक तथा श्राविका सम्यग्ज्ञानपूर्वक ४८ मिनिट के लिए सामायिक में अपनी इन्द्रियों को वश में कर, मौन का पालन व किसी के साथ बात करना छोड़कर, एक आसन में स्थिर रहकर ध्यान में बैठेंगे तो अनेक कषाय भाव से बच जायेंगे क्यों-कि कषाय का तथा प्रमाद का त्याग करना और निस्पृह भाव तथा अना-सक्ति अवस्था पाने के लिए ही सामायिक करने की होती है।

अप्रशस्त लेश्या ही हिंसा का कारण बनती है :

प्रश्न—कोई श्रमणोपासक 'त्रस जीवों को न मारना' ऐसा प्रत्याख्यान लेने के बाद पृथ्वी को खोदते या जोतते त्रस जीव मर जाय तो उसकी प्रत्याख्यान प्रतिज्ञा में अतिचार लगेगा ?

किसी भी वनस्पति की हत्या न करना, ऐसा प्रत्याख्यान लेकर भी पृथ्वीकाय को खोदते समय वृक्ष की जड़ को उखेड़ दें, तोड़ दें तो उसके प्रत्याख्यान में अतिचार लगेगा ?

थोड़ी देर के लिए मानलें कि श्रावक यहां तो प्रवृत्तियों में क्रोध नहीं करता है पर मान–अभिमान या मद की मात्रा तो जरूर होती है क्योंकि उस समय भी श्रमणोपासक स्वयं की क्रिया के प्रति स्वयं के याद किये हुए सूत्रों के प्रति तथा दूसरे किसी को न आता हो तो उसके अन्दर अभिमान की मात्रा जरूर दृष्टिगोचर होगी। "मैं हूं तो गांव में थोड़ी बहुत धर्म प्रवृत्ति दिखती है। मेरे जैसी स्नात्र पूजा और किस को आती है? मेरे जैसे स्पष्ट सूत्र किसको बोलना आता है"? ऐसी भावना के कारण अन्दर का अहंकार जरूर प्रतीत होता है।

कभी किसी भाग्यशाली को इतना अभिमान नहीं हो तो वह प्रतिक्रमण करते स्वयं की शिथिलता को–प्रमाद को, प्रमादयुक्त क्रिया को छुपाने की भावना उसमें दिखती है। स्वयं भले ही नींद में प्रतिक्रमण करता हो पर उस बात को छुपाने के लिए ऐसा ढोंग रचेगा कि मानो वह ध्यान में बैठा हो। यह माया कषाय का ही चमत्कार है।

कभी किसी भाग्यशाली को इतनी माया भी न हो तो उसमें लोभ का दर्शन होगा। "मैं ट्रस्टी हूँ। मेरा हक आगे बैठने का है। प्रतिक्रमण में भी हवावाली खिड़की के पास बैठूंगा। अमुक सूत्र बोलने के लिए साधु महाराज को आदेश देना ही पड़ेगा। इस तरह सत्ता में पड़ा हुआ लोभ स्पष्ट नजर आता है अतः भगवतीसूत्र में कहा है कि–श्रमणोपासक को सांपरायिक क्रिया ही होती है।

कषाय भाव ही आत्मा के अधिकरण हैं। जैसे तलवार, बंदूक, छुरी लकड़ी, कलम, जीभ आदि शस्त्र द्रव्य अधिकरण कहलाते हैं क्योंकि इनसे द्रव्य हिंसा होती है जबकि कषायों से भाव हिंसा होती है भाव हिंसा से आत्मा के गुण दया, सरलता, नम्रता का नाश होता है। द्रव्य हिंसा करते भाव हिंसा अति भयंकर होती हैं।

इतना स्पष्ट ज्ञान होने के बाद श्रमणोपासक श्रावक तथा श्राविका सम्यग्ज्ञानपूर्वक ४८ मिनिट के लिए सामायिक में अपनी इन्द्रियों को वश में कर, मौन का पालन व किसी के साथ बात करना छोड़कर, एक आसन में स्थिर रहकर ध्यान में बैठेंगे तो अनेक कषाय भाव से बच जायेंगे क्योंकि कषाय का तथा प्रमाद का त्याग करना और निस्पृह भाव तथा अनासक्ति अवस्था पाने के लिए ही सामायिक करने की होती है।

अप्रशस्त लेश्या ही हिंसा का कारण बनती है :

प्रश्न—कोई श्रमणोपासक 'त्रस जीवों को न मारना' ऐसा प्रत्याख्यान लेने के बाद पृथ्वी को खोदते या जोतते त्रस जीव मर जाय तो उसकी प्रत्याख्यान प्रतिज्ञा में अतिचार लगेगा ?

किसी भी वनस्पति की हत्या न करना, ऐसा प्रत्याख्यान लेकर भी पृथ्वीकाय को खोदते समय वृक्ष की जड़ को उखेड़ दें, तोड़ दें तो उसके प्रत्याख्यान में अतिचार लगेगा ?

मुनिराज को गोचरी-पानी देनेवाले श्रावक को निम्न वस्तुएं प्राप्त होती है।

(१) जीवन निर्वाह के लिए अति परिश्रम से इकट्ठा किये हुए धन के प्रति त्याग भावना जागृत होती है। धन की मूर्च्छा घटती है और सत्य कार्य में धन का व्यय होता है।

(२) अन्न-वस्त्र आदि यद्यपि दुस्त्यज्य होते हैं तो भी उसको त्यागने की भावना होती है श्रद्धापूर्वक सात क्षेत्र में स्वयं के द्रव्य को खर्चता है।

(३) अनंत संसार में परिभ्रमण करते जो अमूल्य वस्तुएं कभी प्राप्त नहीं की है वह भी मुनिराज के संपर्क में आते ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान प्राप्तकर पुण्यानुबन्धी पुण्य के प्रताप से उनकी प्राप्ति सुलभ बनती है अन्त में सम्यक् चारित्र और केवलज्ञान भी प्राप्त करने में समर्थ बनता है?

सिद्ध की गति कैसी और कौनसी है ?

प्रश्न-एक स्थान से दूसरे स्थान जाने के लिए गति (गमन) कर्माधीन होती है तब शैलेशीकरण करने के बाद सिद्धगति को प्राप्त करनेवाले सिद्ध के जीव मोक्ष में जाने के लिए कौनसी गति से जायेंगे?

यथार्थवादी भगवान महावीर स्वामी ने कहा कि-निःसंग, निराग, गति परिणाम, बंध विच्छेद और पूर्व प्रयोग इन पांच कारण से गति होती है। निःसंग और निराग गति इस तरह होती है जैसे पानी के ऊपर तरने के स्वभाववाले, छिद्रबिना के सूखे तुंबडे पर आठ बार मिट्टी का लेप करने के बाद बहुत भारी हो जाने से वह स्वयं ही पानी की सतह में बैठ जाता है। वहां रहते रहते पानी के संग से जैसे जैसे मिट्टी घुलती जाती है तथा तुम्बे से अलग होती जायगी वैसे वैसे तुम्बड़ा उसके मूलस्वभाव में आता है। जब मिट्टी सर्वथा अलग हो जायगी तो निःसंग और निराग होने से स्वयं ही पानी के ऊपर आ जायगा। वैसे ही यह जीव अनादिकाल के कर्मों

दोनों प्रश्नों का जवाब देते हुए भगवान ने फरमाया है कि क्रिया होनेपर भी ली हुई प्रतिज्ञा मे अतिचार नहीं लगता है। कारण यह है कि श्रावक को संकल्पपूर्वक जीव हिंसा न करनी ऐसी प्रतिज्ञा होती है और ली हुई प्रतिज्ञा पालने मे वह सावधान होता है। ऐसे ही त्रस जीव को या वनस्पती को मारने का संकल्प है ही नहीं। अतः अतिचार नहीं लगता है। सारांश यह कि परिणाम से कर्मों का बंध होता है। क्रिया करते हुए आत्मा का जैसा परिणाम होता है वैसा ही कर्म का बंध होता है।

बालक खेलते हुए यदि हाथ मे से गिर जाता है और मर जाता है तो उसमे हत्या का इरादा नहीं होने से वह निरपराधी होता है और उसपर केस नहीं चलता है। जबकि मारने के इरादे से हाथ मे तलवार लेकर दूसरे मनुष्य के पीछे दौड़ता है। अभी उसने तलवार मारी नहीं है तो भी हत्या का अपराध स्पष्ट होने से पुलिस उसको गिरफ्तार करती है तथा जेल भेजती है।

इसी तरह हृदय मे दया भाव है। जीवन अहिंसामय है। अतः ली हुई प्रतिज्ञा मे पूरी सावधानी होने से साधक निरतिचार है तथा कर्म से लिपटता नहीं है। ❖

व्रतधारी की भक्ति का लाभ कितना है?

प्रश्न—पंच महाव्रतधारी मुनिराज तथा साध्वीजी को प्रासुक (निर्जीव) ऐषनीय (दोषरहित) अन्न-पानी देनेवाले श्रावक को क्या फल मिलेगा?

जवाब मे भगवान ने फरमाया है कि श्रमणो को अन्नपानी देनेवाले श्रावक को समाधि प्राप्त होती है। सारांश कि मुनि भगवंतो को आहार-पानी देने से, गोचरी के लिए घर बताने से और वैयावच्च सेवा करने से अगले भव मे ऐसे पवित्र कार्य करनेवाले श्रावक को समाधि, समता, शांति और संतोष प्राप्त होता है।

मुनिराज को गोचरी-पानी देनेवाले श्रावक को निम्न वस्तुएं प्राप्त होती हैं।

(१) जीवन निर्वाह के लिए अति परिश्रम से इकट्ठा किये हुए धन के प्रति त्याग भावना जागृत होती है। धन की मूर्च्छा घटती है और सत्य कार्य में धन का व्यय होता है।

(२) अन्न-वस्त्र आदि यद्यपि दुस्त्यज्य होते हैं तो भी उसको त्यागने की भावना होती है श्रद्धापूर्वक सात क्षेत्र में स्वयं के द्रव्य को खर्चता है।

(३) अनंत संसार में परिभ्रमण करते जो अमूल्य वस्तुएं कभी प्राप्त नहीं की है वह भी मुनिराज के संपर्क में आते ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान प्राप्तकर पुण्यानुबन्धी पुण्य के प्रताप से उनकी प्राप्ति सुलभ बनती है अन्त में सम्यक् चारित्र और केवलज्ञान भी प्राप्त करने में समर्थ बनता है?

सिद्ध की गति कैसी और कौनसी है?

प्रश्न—एक स्थान से दूसरे स्थान जाने के लिए गति (गमन) कर्माधीन होती है तब शैलेशीकरण करने के बाद सिद्धगति को प्राप्त करनेवाले सिद्ध के जीव मोक्ष में जाने के लिए कौनसी गति से जायेंगे?

यथार्थवादी भगवान महावीर स्वामी ने कहा कि—निःसंग, निराग, गति परिणाम, बंध विच्छेद और पूर्व प्रयोग इन पांच कारण से गति होती है। निःसंग और निराग गति इस तरह होती है जैसे पानी के ऊपर तरने के स्वभाववाले, छिद्रविना के सूखे तूंबड़े पर आठ बार मिट्टी का लेप करने के बाद बहुत भारी हो जाने से वह स्वयं ही पानी की सतह में बैठ जाता है। वहां रहते रहते पानी के संग से जैसे जैसे मिट्टी घुलती जाती है तथा तूम्बे से अलग होती जायगी वैसे वैसे तूम्बड़ा उसके मूलस्वभाव में आता है। जब मिट्टी सर्वथा अलग हो जायगी तो निःसंग और निराग होने से स्वयं ही पानी के ऊपर आ जायगा। वैसे ही यह जीव अनादिकाल के कर्मों

अहिंसा, संयम और तप में रमण करनेवाले कि [illegible] अलग अलग हो सकती है। [illegible] में भी नहीं होती है। कहा है कि—"[illegible]।" क्रिया की विधि के भेद हमेशा रहे हैं अतः क्रिया के भेद को लेकर परस्पर राग-द्वेष बढ़ाना ही उत्सूत्रता है।

सम्यग्दर्शनादि आत्मा के गुण हैं, जिनका कोई भी आत्मा आराधन कर सकती है उनको भी मिथ्यात्वी या नास्तिक कह देने में [illegible] उत्सूत्र है अपनी प्ररूपणा को ही जैन-शास्त्रानुसार बताकर दूसरे महापुरुषों को उत्सूत्र प्ररूपक कहना यह भी मिथ्यात्व है। चाहे जैसी अच्छी प्रवृत्ति करने में भी जो साधक को क्रोध, मान, माया और लोभ का उदय रहता हो तो सूत्रानुसारी साधक को ऐसी प्रवृत्ति छोड़ देनी चाहिए और मौन रहकर आत्म साधन में मस्त रहना चाहिए। गृहस्थ की माया-प्रपंच की बातों में रस नहीं लेने वाला साधु ही सूत्रानुसार चारित्र पालकर स्वयं की आत्मा को उन्नत बना सकता है। सूत्रानुसारी की यही व्याख्या जैनागम को मान्य है।

प्रश्न—'मुच्छिए' आहार के प्रति अत्यन्त रागवान होने से और चरित्र में लगे दोषों की अनभिज्ञता होने से।

'गिद्धे'—आहार में विशेष प्रकार की आकांक्षा रखनेवाला।

'गढ़िए'—आहार के प्रति स्नेह तंतुओं से लिपटा हुआ।

अज्झोववन्ने—आहार के प्रति एकाग्रता को प्राप्त किया हुआ निर्दोष भोजन पानी लाकर वापरनेवाले मुनिराज को मांडली के दोषों में अंगार दोष, धूम दोष और संयोजना दोष जो कहे हैं इसका अर्थ क्या है?

जवाब में भगवान ने फरमाया कि—अंगारदोष—महावैराग्यपूर्वक संपूर्ण गृहस्थाश्रम का त्याग करने के बाद तपस्या, स्वाध्याय, जाप आदि विधि विधान से स्वयं की आत्मा को चन्दन के लकड़ी के समान सुगंधी बनाने के बाद भी गोचरी में आये हुए भिन्न भिन्न प्रकार की मिठाईयां आदि आहार

को गृद्धरूपी अत्यासक्तिपूर्वक आहार करने रूप अग्नि से चारित्र को अंगारे जैसा करना अंगार–दोष कहलाता है।

इस दोष से चारित्ररूपी इमारत जलकर कोयले के समान हो जाती है।

धूमदोषः—गोचरी में नापसन्द वस्तु आजाने से उसके प्रति तथा देनेवाले के प्रति जो द्वेष की भावना आ जाती है उस द्वेषरूपी धुएँ से चारित्रशाला काली हो जाती है।

संयोजना-दोष गोचरी में आये हुए बिना स्वाद के द्रव्य को मसाला, काली मिर्च, शक्कर गुड़ आदि मिलाकर स्वादवाली बनाने की क्रिया को संयोजना दोष कहलाता है।

अनादिकाल से आहार संज्ञा के गुलाम बनी हुई आत्मा को आहार के प्रति अधिक माया ममता होने से उसका लक्ष्य संसार की शुभ प्रवृत्ति करने के बाद भी आहार के प्रति ही रहेगी उसके खास कारण यह है:—

(१) अनादिकाल से आहार संज्ञा जोरदार होने से।

(२) खाने के पदार्थों में अधिक आसक्ति होने से।

(३) खाने–पीने का मिथ्याज्ञान होने से।

(४) खाने–पीने से ही तपस्या अच्छी होती है ऐसा विचार मन में जम जाने से।

इन चार कारण से आत्मा के साथ दुश्मन बनी आहार संज्ञा को स्वाधीन करने के लिए आत्मा समर्थ नहीं बनती है परिणामस्वरूप वह साधक निर्जरा तत्त्व से दूर रहता है अर्थात् स्वाद की लोलुप आत्मा कर्म की निर्जरा नहीं कर सकती है।

बाह्य तप करते आभ्यन्तर तप इसलिए श्रेष्ठ है कि उसमें आत्मा प्रतिक्षण जागृत रहती है। आभ्यन्तर तप में भी स्वाध्याय बल श्रेष्ठ होता

जैन शासन में सभी आगमों का संग्रहात्मक आगम श्री दशवैकालिक सूत्र है। इसमें 'पढमं नाणं तओ दया' का विधान है क्योंकि ज्ञान विना का जीव किसकी दया पालेगा? इसलिये जीवादि का सम्यग्ज्ञान ही आत्मकल्याण का साधक है।

पच्चक्खाण सम्बन्धी प्रश्नोत्तर :

पचक्खाण—प्रत्याख्यान अर्थात् सम्पूर्ण या आंशिक पापों के द्वार बन्द करना वह पच्चक्खाण कहलाता है। वह दो प्रकार का है—

(१) मूलगुण पच्चक्खाण। (२) उत्तरगुण पच्चक्खाण।

मूलगुण पच्चक्खाण भी दो प्रकार के हैं (१) सर्वमूलगुण पच्चक्खाण (२) देशमूलगुण पच्चक्खाण।

सर्वमूलगुण पच्चक्खाण अर्थात् पांच बड़े पापों को अलग-अलग रूप से त्यागना। वह निम्न है :—

(१) सव्वाओ पाणा इवायाओ वेरमणं।

(२) सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं।

(३) सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं।

(४) सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं।

(५) सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं।

अर्थात् मन, वचन और काया से सम्पूर्ण जीवों की मैं हत्या नहीं करूंगा और करनेवालों का साथ भी नहीं करूंगा।

इस तरह सर्व असत्यवाद का सर्व अदत्तादान का त्याग करता हूं। सर्व प्रकार का मैथुन का मन, वचन और काया से त्याग करता हूं और सभी तरह के परिग्रह का त्याग करता हूं।

(२) देश से मूलगुण प्रत्याख्यान भी पांच है :—

(१) थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं।

(२) थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं।

(३) थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं।

(४) थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं।

(५) थूलाओ परिग्गहाओ वेरमणं।

अर्थात् जिनका आत्मबल कर्मों के कारण दब गया हो वे भाग्यशाली सूक्ष्म प्रकार की हिंसा आदि का त्याग करने में अशक्त होने से उनके लिए स्थूल रूप से पांच प्रकार के पापों को त्याग करने की प्रतिज्ञा होती है।

उत्तरगुण पच्चक्खाण भी दो प्रकार के हैं—

(१) सर्वोत्तरगुण प्रत्याख्यान (२) देशोत्तरगुण प्रत्याख्यान। सर्वोत्तर गुण प्रत्याख्यान के १० भेद हैं—

(१) अनागत तप–पर्युषण पर्व आनेपर जो तप करना चाहिए वह कारणवश पहले न किया हो।

(२) अतिक्रांत–कारणवश पर्युषण बाद किया हो।

(३) कोटिसहित–एक तप जिस दिन पूरा होता हो उसी दिन दूसरा तप चालू करना।

(४) नियंत्रित–विघ्न आनेपर भी उसी दिन तप करना।

(५) साकार तप–आकार (महत्तरागार आदि) आकार के साथ तप करना।

(६) अनाकार–आकार–अपवाद रहित तप करना।

(७) कृतपरिणाम–थाली मे या पात्र मे एक साथ रखा हुआ आहार करना।

(८) निरवशेष–चारों प्रकार के आहार का त्याग करना।

(९) संकेतप–मुष्ठि, वस्त्र, गांठ आदि का संकेत करके तप करना।

अब संलेखना व्रत कहते हैं–मृत्यु का समय पास में आने का मालूम होते ही भवभीरु आत्मा स्वयं के शरीर को तथा कषायों को कम करने के लिए संसार की असारता का ख्याल करके किये हुए पापों को वोसरा दे। उसी प्रकार शरीर को वेदना होनेपर भी आत्मा को दृढ़ बनाकर चार प्रकार का आहार तथा स्नेहीजनों या कुटुम्ब का स्नेह छोड़कर अरिहंत के ध्यान में मन को जोड़ दें वह संलेखना व्रत है।

यह व्रत सर्वोत्तम गुणवाले को सर्वोत्तम गुणरूप होता है और देशोत्तर गुणवाले को देशोत्तर गुण रूप होता है। देशोत्तर गुणवाला श्रावक श्राविका को भी स्वयं की परिस्थिति और आत्मा की शक्ति को ध्यान में लेकर गुरुमहाराज के समक्ष करना उचित है।

इस तरह जीव मूलगुण प्रत्याख्यानी भी है, उत्तर गुण प्रत्याख्यानी भी है और अप्रत्याख्यानी भी हैं।

नारक, देव और एकेन्द्रिय से लेकर चउरिन्द्रिय के जीव अप्रत्याख्यानी होते हैं।

मनुष्य और तिर्यन्च जीव भी तीन प्रकार के होते हैं। तिर्यपन्चेन्द्रिय जीव देश से मूलगुण प्रत्याख्यानी होते हैं क्योंकि उनको सर्वविरति का अभाव होता है।

कहा है कि–"तिर्यन्चे पंचेन्द्रिय जीवों को सर्व विरति का अभाव है तो भी महाव्रतोच्चारण सुनाते हैं।"

इस प्रसंग में यह भी कहते हैं कि–"उनको महाव्रतो की सद्‌भावना होनेपर भी अनेक गुणी पंचेन्द्रिय तिर्यचों भी सर्व विरति को चारित्र का परिणाम नहीं होता है।"

साध्वीजी को देखकर मोहवासना के कारण अनेक जन्म के बाद हाथी के अवतार में रुसेन भी स्वयं के भाव का परिवर्तन कर सका है।

तिर्यंच पंचेन्द्रिय देश व्रतधारी हो सकते हैं। महाहिंसक जटायु पक्षी का

मुनिराज के सान्निध्य में कल्पाध्ययन लेने का जैनरामायण में उल्लेख है।

महावीर स्वामी के चरणों में चंडकौशिक नागराज भी देश संयमी बना है आदि उदाहरण शास्त्र में देखने को मिलते हैं।

मूलगुण प्रत्याख्यानी जीव सबसे कम हैं। उत्तरगुण प्रत्याख्यानी जीव असंख्यगुण अधिक हैं और अप्रत्याख्यानी जीव अनंतगुणे हैं।

इन सूत्रों से जानने को मिलता है कि महापुण्योदय हो, भव भवान्तर में जैनधर्म मिलनेवाला हो ऐसे भाग्यशालियों को प्रत्याख्यान धर्म उदय में आता है, या जानबूझकर ज्ञानपूर्वक स्वयं के पुरुषार्थ बल को दृढ़ करके प्रत्याख्यान को उदय में लाते हैं।

भोग और उपभोग में आनेवाले पदार्थों में से जो पदार्थ रक्त, मांस चमड़ी, शुक्र तथा धार्मिक मर्यादा को बिगाड़नेवाले हो उनका त्याग समझदारी से करने में शरीर का आरोग्य बना रहेगा। पाप भीरुता बनी रहेगी, त्याग की भावना उत्पन्न होगी और अरिहंत के त्याग प्रधान धर्म के प्रति श्रद्धा बनी रहेगी तथा बढ़ेगी।

प्रश्न—जीव शाश्वत है या अशाश्वत ?

सत्य मार्ग पर ला खड़ा किया। पंडितों के मस्तिष्क में जो बुरे या असत्य विचार भरे हुए थे उनको भी अनेकान्त रूपी अमृत के पान से निर्मल बनाकर स्वयं के अनुयायी बना दिये थे।

संसार के प्रत्यक्ष अनुभूत सुख-दुःख, संयोग–वियोग आदि व्यवहारों को अलग रखकर सिर्फ बुद्धि कल्पना के घोड़े दौड़ाने में कौनसा हेतु सिद्ध हो सकता था ?

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह के पापो से भरे हुए इन्सान को स्वर्ग और मोक्ष का पाठ पढ़ाने से सांत्वना कैसे मिलेगी ? इन सभी बातो को प्रत्यक्ष करने के बाद ही भगवान महावीर स्वामी ने स्याद्वाद की विचारणा तथा अहिंसा की संपूर्ण स्थापना द्वारा सभी पाखंडो का भंडा फोड़कर एक जबरदस्त क्रांति करके सभी को सत्य का ज्ञान कराने में संपूर्ण सफल बने।

वास्तविकता यह है कि भगवान पार्श्वनाथ के निर्वाण के पश्चात् थोड़े समय के बाद 'वेद विहित हिंसा ने स्वयं का तांडव नृत्य फिर से शुरु कर दिया था।' मांसाहार, सुरापान तथा सुंदरी का सहवास बढ़ चुका था। इन तीनों के सहवास में पंडित, महापंडित श्रीमंत और सत्ताधारी भी फँस चुके थे। जहां मानव समाज का चित्रण ही कद्रूप हो वहां शास्त्रीय ज्ञान और तर्क भी कद्रूप बनकर मानव समाज को किंकर्तव्यमूढ़ बना देता है। उसी समय भगवान महावीर स्वामी की उपस्थिति में अपने स्वयं को तीर्थंकर रूप में माननेवाले छः व्यक्तियो ने अपनी अपनी अनुयायी मंडली में धर्म के सिद्धांतो को बहुत ही विकृत बना दिये थे।

कथित तीर्थंकरो के नाम निम्न हैः—

(१) पूरण कश्यप (२) अजित केशकंबली (३) प्रकुधकात्यायन (४) संजय वेलट्ठी पुत्र (५) मंखली पुत्र गोशाला (६) बुद्धदेव।

इन छः में से पहले के पांच तो अभी उनके नाम ही शेष रहे हैं।

बुद्धदेव का बौद्धशासन अभी विद्यमान है और उनकी मान्यता क्षणिकवाद की है।

नैयायिक आत्मा को सर्वथानित्य मानते थे उनकी मान्यता थी की आत्मा आकाश पदार्थ की तरह एकांत नित्य होने से उसमें किसी प्रकार का फेरफार नहीं है। सुख दुख की कल्पना प्रकृति में तथा माया में ही संभावित हो सकती हैं।

इस तरह आत्मा को एकान्त नित्य मानना या एकांत क्षणिक मानना इत्यादिक चर्चा या वितंडावाद में ही भारत के महापंडित उलझन में फंस रहे थे। किसी समय तो चर्चा का इतना उग्रस्वरुप हो जाता की हाथापाई हो जाती थी। राजसत्ता भी इन पंडितों के चक्र में फंसी थी। हार तथा जीत की शर्त भी बड़ी भयंकर तथा हिंसक होती थी। देश के नागरिक भी किंकर्तव्य अवस्था में थे।

पूरण कश्यप की मान्यता यह थी कि " मनुष्य जो कुछ करता है वह आत्मकृत नहीं है। छेदन, भेदन, मरना-मारना, चोरी, मैथुन आदि में पाप नहीं है तथा दान-पुण्य आदि में धर्म नहीं है। इस अनुकूल मान्यता को लेकर अधिकांश जनता का वर्ग पूरणकश्यप का भक्त बन गया था परन्तु वह बुद्धदेव का प्रभाव सहन नहीं कर सकने के कारण भारतवर्ष से लुप्त हो गया।

अजित देश कंबामी की मान्यता चार्वाक जैसी थी। खाना-पीना तथा मौज करना, स्वर्ग नर्क कुछ भी नहीं है तथा मरने के बाद पुनः कोई आनेवाला नहीं है।

प्रकुध कात्यायन के मत में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, सुख-दुःख और जीव यह सातों तत्व अकृत अनिमित्त, अवद्ध और कूटस्थ है अतः कोई मारनेवाला नहीं हैं और कोई मरनेवाला नहीं है।

संजय वेलट्ठि पुत्र सर्वथा अज्ञानवादी होनेसे उसकी मान्यता थी कि ज्ञान को लेकर ही वैर विरोध बढ़ता है। हिंसा झूठ, चोरी, मैथुन आदि पापकर्मा की व्याख्या में पंडितो की वाक्यता नहीं होने से एक पंडित का दूसरे पंडित से पक्का विरोधी है। अतः इसमें कौन सच्चा और कौन झूठा ?

मंखली पुत्र गोशाला की मान्यता थी कि क्लेश, सुख दुःख आदि सभी बाते निरर्थक हैं। जीव स्वयं कुछ नहीं करता है सब अपने आप ही होता हैं।

इस तरह पंडितों के वचनजाल में राज्य सत्ता, कर्मचारी, श्रीमंत सभी घिरे हुए थे 'मनः पूतं समाचरेत्' सभी अपने-२ मन की करनेवाले होनेसे भारतवर्ष की दशा अंधकारमय और विषमय बन गई थी सामान्य जनता त्रास पा चुकी थी।

जगदंबा जैसी स्त्री शक्ति की अवहेलना अपमान, तिरस्कार ताड़न तर्जन हो रही थी। क्योंकि सभी स्वार्थी थे। उसी समय में दया के सागर भगवान महावीर स्वामी ने समवशरण में विराजमान होकर कहा—हे पंडितो ! तुम जरा दीर्घ दृष्टि से विचार करो। आँखे बन्द करके जरा गहरे अन्तःकरण में प्रवेश करके देखोगे तो जानोगे कि जिस संसार को तुम सब अपनी मान्यता की कल्पना के आधारपर मनघडंत सिद्धांत बना करके बैठे हो वह अधूरा हैं। संपूर्ण विश्व तुम्हारी सभी की नजर में प्रत्यक्ष हैं। जिसमें दो तत्त्व मुख्य है--अनंतानंत जीवराशी और अनंतानंत पौद्गलिक पदार्थ भी दिखते है। जो हरसमय नये-२ पर्यायों में परिवर्तित होते हैं और पुराना आकार बदलता है तथा मूल तत्व कायम रहता है। उदाहरण के रूप में सोने की चेन में चिरस्थायी मूल द्रव्य सुवर्ण है और सोनी ने सोने की चेन का आकार बनाया तथा उसको चेन कहा। बाद में कंठी तोड़कर अंगूठी बनाई मूलतत्त्व सोना तो दोनों में मौजुद रहता है सिर्फ चेन का आकार नष्ट हुआ तथा अंगूठी के आकार में उत्पन्न हुआ। इस

इस तरह असुरकुमार भी देवलोक में उत्पन्न होने के बाद ही एकान्त सुखरूप वेदना को वेदते हैं दुख तो क्वाचित ही वेदते हैं। पृथ्वीकाय के जीव वहां उत्पन्न होने के बाद ही अनेक दुःख भोगते हैं मनुष्य भी मनुष्य अवतार में जन्म लेने के बाद ही सुख दुःख भुगतता है।

सूत्र में यद्वार्थ शब्द से यह जाना जा सकता है कि मनुष्य अवतार छोड़कर नर्क में जानेवाले काल्सौकरिक कसाई को मृत्यु के समय में नारकिय वेदना भुगतनी पड़ी है जैसे अभयकुमार की सलाह से उसके पुत्र सुलस ने स्वयं के बाप के शरीर पर विष्टा का विलेपन किया, गर्म पानी पिलाया, कर्कश शय्यापर सुलाया और मैले गन्दे कपड़े पहनाये और नारक होनेवाले कसाई को नारकीय वेदना भुगतने भी सुख हुआ है। ✧✧

प्रश्न—आयुष्यकर्म आभोग से बंधता है या अनाभोग से ?

भगवान ने कहा कि अनाभोग से ही आयुष्यकर्म बंधता है जब शुभ या अशुभ कर्मों में जीव एक रस हो जाता है और उसके अध्यवसाय भी राग–द्वेष के वश होकर एकाकार हो जाते हैं तब अगले भव के लिए आयुष्य बंधता है और खास करके पर्व तिथियों में, बड़े पर्व मे आयुष्य बंधता है। इसलिए पर्वतिथियो मे, बड़ी तिथियों मे पर्युषण महापर्व और आयंबिल की ओली मे पाप, पापभावना बैर झेर आदि नहीं करने तथा शुभ और पवित्र भाव मे रहने का विधान है ? आभोग–अर्थात् मैं अगले भव का आयुष्य बांधू ऐसी इच्छा करने मात्र से ही कोई जीव आयुष्य कर्म नहीं बाँध सकता है परन्तु अनाभोग से ही अर्थात उपयोग रहित से आयुष्य कर्म बंधता है। ✧ ✧

प्रश्न–अत्यन्त दुःखपूर्वक भुगते जाय ऐसे कर्कश कर्म कैसे बंधते हैं।

भगवान ने कहा कि सर्वश्रेष्ठ मनुष्य अवतार प्राप्त करके दूसरे जीवों के साथ स्वार्थ, लोभ प्रपंच आदि को लेकर बैर, विरोध हिंसा, चोरी, दुराचार आदि दुष्कर्म करते हैं वे अगले भव के लिए दुःख से सहन हो ऐसे कर्कश असाता वेदनीय कर्म का उपार्जन करते हैं। ✧ ✧

प्रश्न–अगले भव के लिए अकर्कश साता वेदनीय कर्म कैसे बंधते है ?

भगवान ने कहा कि–पाणाणुकंपाए–बेइन्द्रिय तेइन्द्रिय और चउरिन्द्रिय जीवों के प्रति दयाभाव रखने से।

भूयाणुकंपाए–वनस्पतिकाय के जीवों के छेदन भेदन आदि कार्यों में करुणा रखने से।

जीवाणुकंपाए–पंचेन्द्रिय और तिर्यंचों के प्रति दयाभाव रखने से।

सत्ताणुकंपाए–पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायुकाय के जीवों के प्रति अनुकंपापूर्वक उपयोग रखने से।

अदुःखणयाए–दूसरे जीवों के दुःख का कारण नहीं बनने से।

असोयणयाए–दूसरे की हालत दयनीय बन जाय ऐसे कार्य नहीं करने से।

अजूरणयाए–दूसरे जीवों के शरीर का क्षय हो ऐसे शोक संताप नहीं देने से।

अतिप्पणाए–अपने निमित्त किसी को पीड़ा हो ऐसा नहीं करने से।

अपिट्टणयाए–किसी को भी लकड़ी आदि से नहीं मारने से।

अपरियावणयाए–दूसरे को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं देने से जीवमात्र अगले भव में शाता वेदनीय और लम्बा आयुष्य बांधता है।

त्रिशला माता ने पूर्वभव में बहुत ही शातावेदनीय कर्म बांधा था। जिससे उनको जीवन के अन्तिम समय तक साता रही थी जबकि देवानंदा ने पूर्वभव के जेठाणी रूप में देवानंदा ने देराणी (त्रिशला) को रुलायी, मारी, देवर से पिटवायी, इत्यादि बहुत शोक संताप देने से भयंकर अशाता-वेदनीय कर्म बांधा था जो देवानंदा के भव में भुगतना पड़ा था।

वाले, बीस वर्ष की आयुष्यवाले, पुत्र, पौत्रादि में आसक्त रहनेवाले, छोटी उम्र में युवान बननेवाले और बहुत अधिक पुत्र पुत्रियों के बाप होंगे। छट्ठे आरे के अन्त में गंगा और सिन्धु नदी के किनारे वैताढ्य पर्वत की निश्रा में रहकर अपना जीवन पूर्ण करेंगे।

उस समय के मनुष्यों के आहार का वर्णन करते हुए भगवान ने कहा कि—बहुत ही कम विस्तार में बहनेवाली गंगा और सिन्धु नदी के पानी में होनेवाली मछलीयों और काचबों को पकड़कर रेत में डाट या दबा देंगे तथा ठंड और धूप से पके हुए जीवों का भक्षण करेंगे। छट्ठा आरा २१ हजार वर्ष का है।

शीलरहित मर्यादा को भंग करनेवाले पच्चक्खाण रहित मांसाहारी मद्यसेवी और मृत शरीरों का आहार करनेवाले छट्ठे आरे के मनुष्य मरकर नर्क या तिर्यन्च गति में जन्म लेंगे।

उस समय के शेर, सिंह, रीछ आदि जानवर भी प्रायः नर्क या तिर्यन्च गति में उत्पन्न होंगे। कौए, मोर आदि हिंसक पक्षी भी हलकी गति में जायेंगे।

इस प्रकार का स्पष्ट वर्णन जानने के बाद भी जो इस वर्तमान भव को सतकार्यों द्वारा सुधारेंगे नहीं तो तिर्यन्च या नर्क गति अपने लिए तैयार है जहां से लम्बे समय तक वापिस मनुष्य भव पाना मुश्किल होगा। संयोग से छट्ठे आरे में मनुष्य भव पा गये तो भयंकर पापकर्म करके संसार रूपी भव समुद्र में डूबे बिना नहीं रहेंगे। इसलिए उत्सर्पिणीकाल में होनेवाले तीर्थंकर देव का शासन हम प्राप्त करने को चाहते हैं तो इस भव में आश्रव मार्ग का यथाशक्य त्याग करके संवर धर्म का आराधन करना चाहिए जिससे देव गति प्राप्त होगी और तिर्थंकर देव, गणधर भगवन्त या विशिष्ट ज्ञानी मुनिराज के चरण में आते ही इस भव की अधूरी आराधना उस भव में पूरी हो जायगी।

यह अच्छी तरह समझलेना कि मनुष्य भव ही अपनी कसौटी के लिए है अतः मन काया और वचन को कंट्रोल में लेकर बने जितना तप, जप और ध्यान कर लेने में ही अपनी भलाई है।

॥ छट्ठा उद्देशक समाप्त ॥

शतक सातवां उद्देशक ७

आश्रव और संवर का स्वरूप :

प्रश्नः—अशुभ मार्ग में गमन करनेवाली पांच इन्द्रियां, क्रोध, मान, माया और लोभरूपी चार कषाय प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह रूपी पांच अव्रत, अशुभ और अशुद्ध मार्ग में प्रवृत्त हुए मन, वचन और कायारूपी तीनों योग और संरंभ, समारंभ और आरंभ करनेवाली पच्चीस क्रियाएँ। ये ४२ प्रकार के आश्रव शास्त्र में बतलाये हैं जिससे जीव दुर्गति का भागी होता है।

जबकि पांच समिति और तीन गुप्ति में रमण करनेवाले, बावीस परिषह को समभाव से सहन करनेवाले, इस प्रकार के साधु धर्म को पालनेवाले, स्वयं के मन को वश में करने के लिए बारह प्रकार की भावनाओं का मनन करनेवाले और पांच प्रकार के चारित्र के पालने में मग्न बने हुए मुनिराज संवर धर्म का सम्यक् पालन करते हैं। गृहस्थी, व्रतधारी, भाग्यशाली श्रावक भी यथाशक्य आश्रव मार्ग को छोड़ देंगे तो वे भी संवर धर्मी कहलायेंगे या ४८ मीनिट के लिए पांचों इन्द्रियों को वश में रखनेवाला श्रावक उस समय तक संवर धर्म का आराधक बनेगा और सद्गति प्राप्त करेगा।

काम भोग आदि का स्वरूप कैसा है ?

प्रश्नः—संवर धर्मी आत्मा कभी भी काम और भोग में लिप्त नहीं बनता है इससे जिज्ञासा होती है कि काम क्या है ? भोग क्या है ? दोनों

रुपी है या अरुपी ? सचित्त है या अचित्त ? जीव है या अजीव ? जीवों और अजीवों को काम होता है ? भोग कितने प्रकार का है ? ये प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान से पूछे हैं।

भगवान ने जवाब में कहा कि—

काम रुपी होता है अरुपी नहीं होता है क्योंकि काम की उत्पत्ति इच्छा में से होती है। मोह कर्म रुपी है क्योंकि कर्म पुद्‌गल ही होते हैं और पुद्‌गल रुप, रस, गंध और स्पर्शवाले होने से रुपी होता है इसलिए काम भी रुपी है ऐसा ही भोग के लिए जानना।

सचित्त और अचित्त के सम्बन्ध में भगवान ने फरमाया कि—संज्ञी प्राणी के रुप की अपेक्षा से काम सचित्त है और शब्द द्रव्य की अपेक्षा से तथा असंज्ञी जीवों के शरीर के रुप की अपेक्षा से काम अचित्त भी है। संज्ञी जीव का मन काम को विषय भूत करता है। 'मन' शब्द से यहां भावमन लेने का है क्योंकि भाव मन ही सचित्त मानने में आता है पर जब वह असंज्ञी जीव के शरीर का विषय भूत होता है तब उसे अचित्त मानने में आता है क्योंकि असंज्ञी जीव का शरीर पौद्‌गलिक होने से अचित्त है इसलिए काम भी अचित है।

जीव के शरीर रुप की अपेक्षा से काम जीव रुप है और शब्द की अपेक्षा से काम अजीव है। काम जीव को ही होता है अजीव को नहीं होता है। ऐसा ही भोग में समझना।

काम का अर्थ यह किया है। मानसिक जीवन में जिसकी अभिलाषा हो परन्तु शरीर के स्पर्श द्वारा जो भोगने में आता नहीं है अर्थात् इच्छा मन से जिनकी उत्पत्ति है परन्तु शरीर के भोग में नहीं आवे वह काम कहलाता है और शरीर द्वारा जिसका भोग हो वह भोग कहलाता है।

शब्द और रुप यह दो काम हैं।

गंध, रस और स्पर्श यह तीन भोग हैं। पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म को लेकर पांचों इन्द्रियों को प्राप्त हुए जीव को पांचों काम और भोग होता है। जहां काम भोग से संबन्ध विषय वासना का भोग ही नहीं लेना, पांचों इन्द्रियां अपने-२ काम में और भोग में अति आसक्त बनकर तीव्र अभिलाषा से उन काम तथा भोग को भोगे उसे कामभोग कहते हैं। इन्द्रियों के विषय नियत हैं वह निम्न हैं :—

स्पर्शेन्द्रिय—प्रत्येक पदार्थ में रहे हुए स्पर्श का ग्रहण करे।

रसेन्द्रिय—प्रत्येक पदार्थ में रहे मधुरादि रस को ग्रहण करे।

घ्राणेन्द्रिय—प्रत्येक पदार्थ में रहे गंध को ग्रहण करे।

चक्षुरिन्द्रिय—प्रत्येक पदार्थ में रहे रूप वर्ण को ग्रहण करे।

श्रोत्रेन्द्रिय—पदार्थ के शब्द को ग्रहण करे।

इन्द्रियां मन के स्वाधीन होती हैं। मन आत्मा का स्वाधीन होने से अनादिकाल से आत्मा ने अनंत भव में अनतानंत पदार्थों के काम भोग किये हैं अतः प्रत्येक भव के कामभोग के संस्कार आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर विद्यमान होने से आत्मा की सहजगति काम भोग को प्राप्त करने की ही होती है। अनादिकाल का लंगोटिया मित्र जैसा मन भी उसका साथ देता है और मन से प्रेरित होकर इन्द्रियें भी काम भोग को प्राप्त करने के लिए आत्मा को साथ देने में सदैव तत्पर होती है। ऐसी स्थिति में शराब के नशे की तरह काम भोग का नशा भी आत्मा को किंकर्तव्यमूढ बनाकर भयंकर से भयंकर दुष्कृत्यों और दुराचारों के प्रति प्रस्थान करा देता है।

ज्ञान रूपी तलवार और वैराग्यरूपी ढालबिना की आत्मा को पांचों इन्द्रियों के २३ विषय रूपी काम भोग की स्मृति प्रतिक्षण सताती रहती है। दिन और रात के २४ घंटे, एक घंटे के ६० मीनिट, १ मीनिट के ६० सेकण्ड और एक सेकण्ड के ६० प्रति सेकण्ड होते हैं। कामभोग से वासित आत्मा चाहे जहां बैठी होगी तो भी प्रति सेकण्ड के लिए

कामभोग के विचार को छोड़ नहीं सकती है। शायद किसी क्षण अस्थायी अपुष्ट वैराग्य के कारण कामभोग से थोड़ी देर के लिए मुक्त होने की इच्छा करता है पर अत्यन्त तीव्र अवस्था को प्राप्त हुए काम भोग आत्मा को छोड़ते नहीं है और किसी भी प्रति सेकण्ड में आत्मा कामभोग के आधीन बनती है।

बेशक मोहराजा के सैनिक पदवी को धारण करनेवाले इन काम भोग के सामने वैराग्य राजा की छावनी को स्वीकारकर स्वयं की व्यूहरचना जबरदस्त बनाई हुई आत्मा के सामने कामभोग हताश होकर कमजोर बनते हैं अन्यथा चाहे जैसे साधक को चाहे वह नग्न हो, उपवासी हो, या दीर्घ तपस्वी हो तो भी नंदिषेण मुनि की तरह चलायमान करते देर नहीं लगती है। मोहराजा के इन सैनिको का इतना ही काम है कि वे साधक मात्र को सबसे पहले पदार्थमात्र का स्पर्श करने की, रसास्वाद करने की, सुगंध के प्रति आसक्त बनाने की, आंख से वस्तु को देखने की और कान से सुनने की इच्छा–अभिलाषा उत्पन्न कराते है। एकबार आत्मा में काम भोग की अभिलाषा उत्पन्न हुई तो मन में चंचलता का प्रवेश होते ही चाहे जैसे प्रतिकारों को छोकर मारकर भी वह साधक कामभोग को प्राप्त करने के लिए चाहे जैसी प्रवृति अपना लेगा। जैसे जैसे उन पदार्थों के स्पर्श की, चखने की, सूंघने की, देखने की, सुनने की इच्छा बढ़ती जायगी वैसे वैसे 'काम' का प्राबल्य उसकी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में जोर करेगा। इस तरह बढ़ी हुई कामेच्छा चाहे वह मन पसन्द पदार्थ खाने की हो, स्त्री आदि के स्पर्श करने की हो, सुगंधी पदार्थों के सूंघने की हो, मनपसन्द स्त्री को देखने की हो या मनपसन्द प्रियव्यक्ति के शब्द सुनने की हो–आत्मा को अत्यन्त कामी बनाये बिना रहेगी नहीं और "कामात्क्रोधोऽभिजायते" काम से क्रोध उत्पन्न होता है।

अपने जीवन की लाखो बार बनी हुई घटनाओं को याद करे तो सहज समझ सकते है कि जब जब हम क्रोधावेश में आते है तब तब

उसके मुख्य कारण 'काम' (पांचों इन्द्रियों के [illegible] विषयों को प्राप्त करने की लालसा–लोभ) ही है। मनुष्य के पुण्यकर्म हर समय एक समान नहीं होते अतः मनपसन्द भोग्य पदार्थ के भोगने में प्रतिकार की संभावना रहती है तब क्रोध की मात्रा भड़के बिना नहीं रहती है या जो पदार्थ अपना भोग्य हो उस पदार्थ के मालिक का मिजाज अपने प्रति एक समान नहीं रहता तो भी हम उस भोग्य पदार्थ पर या उसके मालिक पर क्रोध में भर जाते हैं जैसे—

(१) मनपसन्द स्त्री के साथ वार्तालाप करने के समय जो भी व्यक्ति अपने को रोकता है उसके प्रति १०८ डीग्री का क्रोध हुए बिना रहता नहीं है।

(२) मनपसन्द रंग के कपड़े तथा उसकी कटींग न हुई हो तो क्रोध में कपड़े लानेवाले व्यक्ति और सीनेवाले दर्जी के ऊपर गालियों की बौछार कर देते हैं।

(३) इच्छा मुजब चटनी, मसाले, भोजन या पेय पदार्थ नहीं मिलने से परोसी हुई थाली या पेय पदार्थ से भरे हुए गिलासों को भी रसोई करने वाले पर फेंक देने में कितनी देर लगती है ?

(४) मनपसन्द स्त्री या पुरुष का दृढ आलिंगन करने का मौका मिलता हो उस समय अपने से बड़े लोग अपने को सलाह देनेको तैयार होते हैं तो अपने मगजी भाई की मजा देखने जैसी होती है। सलाह देनेवाले चाहे गुरु हो तो भी उस समय तथा भविष्य के लिए भी हमको कट्टर शत्रु जैसे लगेंगे।

(५) आंख बन्द करके मंदिर में बैठने के बाद भी पीछे से मनपसन्द व्यक्ति के मधुर संगीत की आवाज आयी तो हमारा ध्यान और प्राणायाम की दशा हम ही जानते हैं।

इस तरह काम में से क्रोध की उत्पत्ति प्रत्यक्ष गम्य है। योगशास्त्र, में हेमचन्द्राचार्य महाराज कहते हैं कि "कषायान् विजेतुं इन्द्रियाणां जेतृत्वं आवश्यक मेव।"

क्रोध की मात्रा जब बढ़ जाती है तब मोहावस्था या मूढ़ावस्था भी बढ़ जाती है, तब मनुष्य विवेक शून्य हो जाता है। स्मृति के नाश में भूत, भविष्य और वर्तमान का निर्णय करने की बुद्धि नाम की आत्मा की पटरानी भी रूठकर स्वयं के पीहर चली जाती है और सद्बुद्धि के जाते ही अनादिकाल की वेश्या जैसी दुर्बुद्धि ही साधक के गले लिपटकर आत्मा का सर्वनाश करा डालती है।

इन सभी कारण से शास्त्रकारों ने कामभोग को दुस्त्याज्य कहा है क्यों कि एक के बाद एक गुणठाणे को प्राप्ति करने की इच्छा को मूल से नाश करनेवाले कामभोग ही हैं। योगीराज आनंदघनजी ने कहा है कि 'आगम आगम धर ने हाथे, नावे किण विध आंकु' अर्थात् भगवतीसूत्र या कल्पसूत्र के पवित्र कागज हाथ में रहनेपर भी आंख और कान स्वयं की चालाकी और वक्र स्वभाव को छोड़ नहीं सकते हैं तो फिर स्पर्शेन्द्रिय रसेन्द्रिय आदि भी क्यो पीछे रहे?

उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान ने काम भोग को शल्य तथा विष जैसा कहा है शल्य अर्थात् कामभोग रुपी कांटा। हम सभी जानते है कि नेमनाथ भगवान के पास दीक्षित हुए उनके ही छोटे भाई रथनेमी के मन में राजी-मती के प्रति कामभोग का कांटा रह जाने से कैसी दशा हुई?

विष से विषय में एक ही अक्षर ज्यादा है पर विषय अनंतभव को बिगाड़ते है। अतः आत्मा का पतन करनेवाले इन्द्रियों के २३ विषय से मन को दूर कर आत्मा में स्थिर रहना यही उपयोगी मार्ग है।

पूर्व के पुण्योदय से पांच इन्द्रिय के २३ विषय की प्राप्ति होने के बाद भी उनको भोगने में विवेक रखना चाहिए। जैसे :—

(१) पुण्यानुबंधीपुण्य—अगणित धनराशि, युवावस्था, सुन्दर शरीर और मनपसन्द भोग्य पदार्थ मिलनेपर भी जिनधर्म का आश्रय लेकर निरर्थक पापों से बच जाने की इच्छा से स्वयं का धन महाव्रतधारी के दर्शन, ज्ञान और चारित्र की वृद्धि में व्यय करेगा। युवावस्था में भोग विलास की रात्रियों को भी मर्यादित करेगा, सुन्दर शरीर में एक भी दुर्गुण प्रवेश न हो उसका ध्यान रखेगा और मनपसन्द भोग्य पदार्थ में आर्तध्यान तथा अत्यन्त रागी न बन जाये इत्यादिक असत्कार्यों में सावधान रहनेवाला भाग्यशाली पुण्यानुबंधीपुण्य का मालिक बनेगा।

पुण्यानुबन्धीपाप—पापकर्मों की तीव्रता के समय भी स्वयं की आत्मा को संयमित कर कामभोग से मन को दूर करेगा तथा सद्बुद्धि, सद्वासना और सद्विवेक का मालिक बनेगा।

(३) पापानुबन्धी पुण्य—पुण्य प्राप्त सामग्री को कामभोग के आनंद में व्ययकर आत्मा को भारी बनायेगा।

(४) पापनुबन्धी पाप—जिनके विवेकरूपी दीपक सर्वथा बुझ गये हो। वे नहीं मिले कामभोग को प्राप्त करने के लिए प्रतिक्षण रात-दिन एक करेगें अर्थात् आर्त और रौद्र ध्यान में ही लीन रहेगें।

प्रश्न—छद्मस्थ मनुष्य जो इस भव में देवलोक में उत्पन्न होने योग्य है। पर उसका शरीर अत्यन्त दुर्बल होने से वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषार्थ से बहुत से भोग भोगने में समर्थ नहीं होता? आप श्री भी इस बात का समर्थन करते है?

भगवान ने कहा कि—तेरी बात का मैं समर्थन नहीं करता पर मेरा कहना यह है कि हे गौतम? वह जीव।

उत्थान अर्थात् खड़े होने रूप की चेष्टा द्वारा।

कर्म अर्थात् भ्रमण आदि क्रियाओं द्वारा।

बल अर्थात् शरीर सामर्थ्य द्वारा।

वीर्य अर्थात् स्वयं के आत्मबल द्वारा।

पुरुषार्थ अर्थात् स्वयं के स्वभिमान द्वारा।

इस प्रकार पांच प्रकार से वह जीव स्वयं के विपुल भोगों को भोगने के लिए समर्थ बनता है और जो भोग को भोगने में समर्थ है वह स्वयं को मिले भोगों का त्यागकर अच्छी से अच्छी निर्जरा भी कर सकता है और विशिष्ट फल का मालिक बनता है। भोग के त्याग भाव से ही जीव मात्र कर्म की निर्जरा करने में समर्थ है।

जब तक ज्ञान और वैराग्यपूर्वक भोग का त्याग नहीं करता और शरीर से दुर्बल है तथा मिले हुए भोगो को भोगने में भी समर्थ नहीं है उस दशा में वह जीव कर्म की निर्जरा नहीं कर सकता क्योंकि त्याग की भावना से त्यागी नहीं बना तो भी दुर्बलता के कारण अभोगी होने पर भी उसके मन में भोग के प्रति लालसा रहती है। बहुत से वृद्ध मनुष्य को अपन जानते है और देखते हैं कि–उम्र से परिपाक होने पर भी और शरीर के अंग शिथिल बन जानेपर भी मैथुन कर्म के त्याग की भावना उनमें पैदा नहीं होती। उस समय भी वे कहते है कि कदाच बीमारी से मुक्त हो जाऊं तो.....। अनुभवी महात्मा कहते है—

'अंग गलितं पलितं मुण्डं दशन विहिनं जातं तुण्डं।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चति आशापिण्डं॥

अंग गल गये बाल सफेद हो गये मुँह में से सभी दांत गिर गये तो भी मनुष्य वासना छोड़ने में समर्थ नहीं होता है।

छोटी तथा जवान उम्र में खाने-पीने की जो आदत पड़ जाती है उस कारण से मरने की तैयारी है तो भी सुपारी का टुकड़ा खाना है, बीड़ी पीनी है होटल की सेन्डवीच खानी है और बेटा, जमाई, पौत्र और दोहिते आदि को देखने की तमन्ना कम नहीं हुई। कितने तो मृत्यु के समय

धार्मिक, सत्य और असत्य, सदाचार और दुराचार, त्याग और भोग का विवेक करने में सर्वथा शून्य होते हैं। जिससे पूरी जिन्दगी तक स्वार्थ के सुख के लिए खान पान, और नाशवान शरीर के भोग विलास और इन्द्रियों के गुलाम बनकर अनंतानंत जीवों के साथ वैर की गांठ में बंध जाते हैं।

पूर्व भव के पुण्यकर्मों के कारण मिलनेवाले भोग्य पदार्थ धार्मिक मार्ग से भी प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु विवेक धर्म का जीवन में जब लोप होता है तब पंचेन्द्रिय जीव के वध से उपार्जित मांसाहार का भोजन, त्रस जीवों के वध से बने हुए रेशमी वस्त्र, तथा पेयादि पदार्थ जीवन के आनंद के लिए अपनाने में तैयार रहेंगे। फलस्वरूप पुण्य संयोग से मिले हुए मनुष्य अवतार को समाप्त करके एकेन्द्रिय अवस्था में अकथनीय वेदना का अनुभव करेंगे। अनिच्छा से वेदना को भुगतते वनस्पति काय का जीव यह नहीं चाहता है कि मेरी डाल, पुष्प, फल, पत्तियाँ आदि कोई तोड़े, छेदे, जलाये या बांधे तो भी अधार्मिक मनुष्य बिना प्रयोजन के भी चलते फिरते वृक्ष की डाल, फूल, फल, तथा पत्तियों को तोड़ते जाते हैं। कोई कोई तो नयी कलियों को तोड़ते हैं कोई पुष्प की एक एक पंखुड़ी अलग अलग करके फेंक देते हैं। इस तरह स्वयं की जात को किसी भी तरह से प्रतिकार करने के लिए सर्वथा अक्षम अकाम वेदना भुगतते हैं।

प्रश्न—गौतमस्वामी इसी प्रश्न के अनुसंधान में दूसरा प्रश्न पूछते हैं कि ज्ञान शक्ति शून्य मन रहित जीव भले ही अकाम वेदना भुगते परन्तु जो समनस्क जीव ज्ञानशक्तिवाले है वे क्या अकामनिकारण वेदना भुगतते है?

भगवान ने कहा—हे गौतम! गर्भज तिर्यन्च पंचेन्द्रिय और मनुष्य भी उपयोग की शून्य अवस्था में अनिच्छापूर्वक अकाम वेदना को भुगतते हैं। इसके कारण में भगवान ने कहा कि चाक्षुष पदार्थ को देखने की शक्ति होने पर भी प्रकाश के अभाव में, अंधकार में रहे हुए, नजदीक

पदार्थ को भी देख नहीं सकते है वैसे ही उपयोग के अभाव में अर्थात् वह पदार्थ मुझे देखना है ऐसा अभिप्राय जबतक जीव को न हो तब तक कौनसा भी पदार्थ नहीं देख सकता है। इस तरह इच्छा शक्ति से युक्त जीव भी उपयोग की अस्थिरता में जो सुख दुःख का वेदन करते है वह अकाम निर्जरा कहलाती है। अमनस्क जीव इच्छा और ज्ञानशक्ति के अभाव में जैसे कर्मों का वेदन करते है वैसे ही समनस्क जीव उपयोग के अभाव में करते है।

सारांश यह है कि—कर्म का वेदना सर्वथा अनिवार्य होने पर भी उपयोग रहित मनुष्य की खाने–पीने, चलने, उठने आदि की क्रियाओं में ऐसी भूले हो जाती है कि जिससे उसका खाना पीना या चलने आदि क्रियाएँ असाता वेदनीय को भुगतने के लिए ही बन जाती है और फिर से उस स्थिति में नये कर्मों का बंधन हो जाता है। स्वयं की आत्मा में स्थिर और ज्ञानपूर्वक शान्त तथा दांत बना हुआ भाग्यशाली हर क्षण सम्यक्चरित्र के उपयोग मे रमण करनेवाला होने से तपस्वी तथा ज्ञानी होता है अतः अहिंसा, सत्य, सदाचार आदि धर्म का ख्याल रखकर खाने, पीने चलने आदि की क्रियाओं में एक भी भूल नहीं होने से उसकी सभी क्रियाएँ कर्मों के निर्जरा का कारण बनेगी। उपयोगी आत्मा मोहनीय कर्म के उपशम के लिए जागृत रहकर पुरुषार्थ करती है। इस लिए प्रारब्ध निकाचित कर्म का वेदन करते हुए भी तथा नये कर्म के बंधन से दूर रहने पर भी पुराने कर्मों का निर्जरक बनेगा क्योंकि वह ज्ञानी है। ❖❖

प्रश्न—ऐसा ही तीसरा प्रश्न यह है की संज्ञी और समर्थ होनेपर भी प्रकाम निकरण अर्थात् तीव्र इच्छापूर्वक वेदना को वेदते है?

जवाब मे भगवान ने कहा कि–हे गौतम! 'हां' वे जीव वेदना को भुगतते है। कैसे? जैसे समुद्र के पार रहे हुए पदार्थ का स्पर्श, स्वाद, घ्राणन, दर्शन और श्रवण करने की तीव्र इच्छावाला मनुष्य जिसके रोम

संज्ञानिरूपण

जिनमें जीव संज्ञी कहलाता है वे संज्ञा दस है इनमें आहा
संज्ञा में क्षुधावेदनीय कर्म काम करता है। भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध
मान, माया और लोभ संज्ञा के मूल में मोहनीय कर्म का उदय होता है
ओघ संज्ञा और लोक संज्ञा में ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम का
अथवा निमित्त होता है।

आहार संज्ञा–क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय मात्र से भिन्न भिन्न प्रकार
आहार करने की तीव्र लालसा बनी रहती है।

भय संज्ञा–इसमें मोहनीय कर्म के उदय से आंखो में भय, वचन
स्खलना, शरीर में कंपकंपी और चारो तरफ से साशंक या निरशंक
मनुष्य भयभीत बना रहता है।

मैथुन संज्ञा—वेद मोहनीय कर्म के उदय से स्त्री या पुरु
को विषय सेवन करने की ही भावना बनी रहती है।

परिग्रह संज्ञा लोभ कपाय के उदय से संसारकी वृद्धि के कार
रूप धन, धान्य, हाट, हवेली, सुवर्ण आदि में अत्यन्त आसक्ति रह
है।

क्रोध संज्ञा–क्रोध कपाय के उदय से आंखो में लाली, ओंठ मे फडफ
ड़ाहट, दांतो मे किचकिचाहट आदि चेष्टाएँ होती है।

मान संज्ञा–मान कषाय के उदय से मनुष्य को मद अभिमान आदि उत्पन्न होता है।

माया संज्ञा–माया कषाय के उदय से कूड-कपट की भावना, असत्य बोलना आदि प्रवृति होती है।

लोभ संज्ञा– लोभ कषाय के उदय से मोहासक्त बनकर सचित्त अर्थात् पुत्र पुत्रियों, अचित्त अर्थात् मकान बंगला और मिश्र अर्थात् पुत्र-पुत्रियो को शृंगारने तथा बंगले की रोनक बढ़ाने, वस्त्राभूषण तथा फर्निचर वस्तु प्राप्त करने में ही लीन रहता है।

ओघ संज्ञा–मति ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से शब्द आदि अर्थ के विषयवाला सामान्यज्ञान वह ओघ संज्ञा कहलाती है।

लोक संज्ञा–पदार्थों का विशेष ज्ञान वह लोक संज्ञा है।

इस प्रकार ये दस संज्ञाएँ नर्क से लेकर वैमानिक देवो तक होती है। तथा संसार में परिभ्रमण करानेवाली है।

इस मनुष्य अवतार में सम्यगज्ञान की प्राप्ति के लिए जो प्रबल पुरुषार्थ करने में आवे तो प्राप्त हुई उस ज्ञान संज्ञा से ऊपर की दसो संज्ञा का बल कम होगा और स्वयं के जीवन को ऊँचा बना सकेगा अन्यथा "ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः"। दसो संज्ञाओ में फंसा हुआ जीव पशु जैसा ही अज्ञानी है और अज्ञानी जीव आहार मैथुन परिग्रह आदि के उदयकाल में विवेक रहित होने से उनको सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। परिणाम स्वरूप उनकी मानसिक, वाचिक और कायिक चेष्टाएं इस अगाध संसार की भयंकरता को बढ़ानेवाली ही होती है। आचारंग सूत्र के पहले सूत्र में ही भगवान फरमाया है कि कितने ही जीवों को ज्ञान संज्ञा नहीं होती है तो फिर कर्म किस तरह बंधते है ? कर्म कैसे टूटते है ? बंधे हुए कर्म कैसे भयंकर होते हैं ? ये सभी बाते कैसे जान सकेंगे ?

अतः संसारभीरु आत्माओं को स्वयं के पुरुषार्थ से उपर की संज्ञाओं का जोर कम हो और ज्ञान संज्ञा की प्राप्ति हो ऐसे प्रयत्न करना चाहिए।

उपरोक्त दसों संज्ञाएँ जिसके जीवन में प्रवेश कर गई है। वे जीव मरकर प्रायः नरक में ही जाते है और वहां दस प्रकार की असह्य वेदना भुगतनी पड़ती है। ये दस वेदनाएँ यह है :—ज्यादा से ज्यादा शीत, उष्ण, भूख, प्यास, खुजली, पराधीनता, ज्वर, दाह, भय और शोक है।

इन वेदनाओं को भुगतते नर्क के जीव स्वयं का जीवन रो रोकर पूर्ण करते हैं?

नर्क के जीव जो वेदना भुगतते है उसका कारण उनके किये हुए कर्म ही है। कर्म बांधने का मुख्य कारण क्रियाये हैं। जिससे क्रियाएँ कर्म कहलाती है। क्रियाएँ बहुत है पर इस प्रश्न में तो केवल अप्रत्याख्यानी क्रिया की बात है।

गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान ने कहा कि 'हाथी और कीड़ी के जीव की अप्रत्याख्यानी क्रिया अविरति को लेकर समान है। विरति अर्थात त्याग! पापस्थानक के त्याग को विरती कहते हैं। क्योंकि अनादिकाल से यह जीव दस या प्रकारान्तर से सोलह संज्ञाओं में बेभान बनकर संपूर्ण संसार के माया प्रपंच में पारंगत बन सका है। इसलिये तो वह राजा महाराजा के मोटर के नम्बर याद कर सकता है। आहार में स्वाद बढ़ाने के लिए वैद्यक ग्रन्थों का अभ्यास किया। काम सेवन के ८४ आसन ध्यान में रखे, पैसा इकट्ठा करने में कैसी योजना कैसे करनी इसमें जीवन पूर्ण किया। परंतु इन सभी बातों में कितने पापस्थानक का सेवन किया वह जानने की कोशिश नहींकी फिर तो उसे छोड़ने की बात ही कहां रही? पाप की गठरी के नीचे स्वयं दब गया।

इस तरह संख्याता या असंख्याता बार मिले हुए मनुष्य अवतार को इस जीवात्मा ने व्यर्थ गुमाये। अब महान पुण्योदय से प्राप्त हुआ मनुष्य

भव व्यर्थ न जाय इसलिए बहुत समझपूर्वक पापों को पहचानना और जैसे बन सके वैसे पापस्थानक का त्याग कर विरती धर्म को अंगीकार करना यही उपयुक्त है।

वर्तमान भव में निरर्थक बंधाते हुए पापकर्म का त्याग कर भव भवां-तर में बंधे हुए पापों को अच्छी तरह आलोचना करके उन पापो की क्षमा मांगनी आवश्यक है। मच्छीमार, कसाई, कलाल, लुहार, सुतार, गणिका, बदमाश, भांड आदि के घर जन्म लेकर अगणित पाप किये हैं। उन पापों का हृदय से पश्चाताप करके क्षमा मांगनी और जिस खिड़की में से हवा आती हो वह खिड़की बंद करने में आती है वैसे ही जिन कारणों से पाप आते हो उन पापों के द्वार को बंद करेंगे तो ही हम दुःख में से छुटकारा पा सकेंगे।

आधा कर्म का आहार लेनेवाला मुनि कितने कर्म बांधता है?

इस प्रश्न का जवाब प्रथम शतक के नवमें उद्देशक मे आ चुका है।

॥ आठवां उद्देशक समाप्त ॥
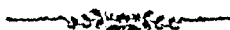
शतक सातवां उद्देशक ९

प्रश्न—असंवृत्त अणगार (वैक्रिय लब्धि प्राप्त) बाहर के पुद्गल को ग्रहण करके एक वर्णवाले एक रूप की, एक वर्णवाले अनेक रूप की, अनेक वर्णवाले एक रूप की रचना तथा अनेक वर्णवाले अनेक रूप की रचना (विकुर्वणा) करने को समर्थ होते हैं। इस प्रकार वर्ण आदि की अपेक्षा से ये प्रश्न है :—

प्रश्न—इसमें चेटक राजा और कोणिक की युद्धभूमि का कथात्मक वर्णन है। कथा की पूर्व भूमिका इस प्रकार है।

वैशाली नगरी मे महाप्रभावशाली, अरिहंत के धर्म में पूर्ण श्रद्धावान्, शीलवान् और सदाचार का अजोड़ पालक, रक्षक चेटक नाम का राजा था जो भगवान महावीर स्वामी के मामा थे। उनके सात पुत्रियाँ थी जो सती शिरोमणी और जैन धर्म के पालन में पूर्ण रूपसे दत्तचित्त बनी हुई थी। पहले वे पार्श्वनाथ भगवान के अनुयायी थे बाद में महावीर स्वामी का सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार किया जो उनकी नस-२ में व्याप्त था। महाराजा चेटक का परिवार भगवान महावीर का पूर्ण उपासक था उनके रोम-२ में अरिहंत का धर्म व्याप्त था।

अखिल संसार जैन धर्म का अनुयायी बने, अहिंसा धर्म की पताकाएँ घर-२ लहराये संयम की महा ध्वजा गलीगली में लहरे ऐसे उच्च आशय से महाराजा चेटकने स्वयं के साम्राज्य को छोड़कर दूसरे देश के राजाओं

को भी ऐसा करने का समझाकर सभी के साथ एक गणतंत्र की स्थापना की, तथा सभी राजाओं का उसमें समावेश किया। उस गणतंत्र की राजधानी वैशाली नगरी को बनाया तथा उसके प्रधान महाराजा चेटक बने। काशी और कौशल देश के नौ मल्ली और नौ लच्छी राजा भी गणतंत्र में शामिल हुए। इस समग्र गणतंत्र का चेटक राजा बहुत ही कुशलता से संरक्षण करते थे। जिसकी इतनी प्रसिद्धि हुई कि दूसरे देश के राजा भी उसमें सम्मिलित होने को उत्सुक थे क्योंकि जीव हिंसा, शराब पान, परस्त्रीगमन, के व्यापक प्रचार से वे राजा परेशान हो गये थे। पांडित्य गर्विष्ट, अर्धदग्ध पंडितो के वाक्जाल से सारा वातावरण भयंकर बन गया था। देवी देवताओं के सामने उनके नाम पर अगणित मूक पशुओं का वध, गुलामी प्रथा के नाम पर गुप्त या प्रगट व्यभिचार, जगदम्बा शक्ति को धारण करनेवाली नारी जातिपर पुरुषों का स्वछंद व्यवहार आदि से मनुष्य समुदाय दुःखी हो गया था। उस समय अहिंसा, सत्य, सदाचार आदि धर्मो का संस्थापक गणतंत्र राज्य दिन प्रतिदिन यशस्वी और मनुष्यों पर आशीर्वाद के समान बन रहा था।

उस समय हिंसा, शराबपान, परस्त्रीगमन का अत्यधिक प्रचार होने से महापंडित भी इसमें फंसे हुए थे। अतः उन्होंने गणतंत्र राज्य का विरोध भी खूब किया था।

भगवान महावीर स्वामी के तीर्थंकर होने के बाद भी हिंसा और अहिंसा के कारण बहुत ही अशांति फैल रही थी। भगवान ने स्वयं की अनुपम ज्ञानशक्ति के प्रभाव से इस अशांति को शांति में परिवर्तित कर दिया था। किसीप्रकार की हिंसा से धर्म तथा सद्गति की प्राप्ति नहीं होती है बल्कि नर्क के घोर दुःख सहन करने पड़ते है यह अच्छी तरह समझाया। और जनता समझने लगी।

यहाँ पाँच बोल है – धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, और पुद्गलास्तिकाय।

अस्तिकाय यानि प्रदेश और काय यानि समूह। प्रदेशों का समूह जिसमें हो वह अस्तिकाय पदार्थ कहलाता है और वह उपयोगलक्षण में है। इसमें से जीवास्तिकाय को छोड़कर बाकि चार अजीव है। अजीव होने पर भी उनमें प्रदेशों का समूह होने से यह चारो अस्तिकाय कहलाते है।

जीवास्तिकाय अरूपी है। ज्ञानादि रूप उपयोग का नाम जीव है इसलिए ज्ञानादि रूप उपयोग की जहां प्रधानता हो वह जीवास्तिकाय है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय तथा जीवास्तिकाय अरूपी है जबकि एक मात्र पुद्गलास्तिकाय रूपी है

इस तरह महावीर स्वामी जो प्रतिपादन कर रहे हैं उसको हम सत्य कैसे माने ? सभी छद्मस्थ होने के कारण इन्द्रियातीत पदार्थों का निर्णय करने योग्य नहीं थे। इस तरह शंकाशील बनकर वे चर्चा कर रहे थे।

उस समय ज्ञानचक्षु से सभी द्रव्य तथा उनके अनंत पर्याय को प्रत्यक्ष करते तथा शंकाशील होते हुए भी भवितव्यता जिनकी पक गई है जैसे उन भव्यात्माओ को सम्यगज्ञान देने भगवान भी वहां विहार करते हुए गुणशील चैत्य के उद्यान में पधारे और समवसरण में विराजमान हुए। वे अन्यमतवाले भी वहीं पास में ही रहते थे।

उस समय भगवान के ज्येष्ठ अंतेवासी इन्द्रभूति गणधर अरस निरस आहार की प्राप्ति के लिए राजगृही नगरी में इर्यासमिति पूर्वक निकले और अन्य मत वालो के सामने से गुजरे। गौतम स्वामी को देखकर कालोदायी ने सभी से कहा की भाइयों ! देखो भगवान महावीर स्वामी के ज्येष्ठ गणधर गौतम स्वामी जा रहे है वे बहुत ही ज्ञानी है चलो हम उनसे मिलकर महावीर के वचनों का तात्पर्य जाने।

सभी तैयार होकर गौतम स्वामी के पास आये और कहा कि हे महाभाग ! तुम्हारे गुरु महावीर स्वामी अस्तिकाय की जो प्ररूपणा कर रहे हैं उसमें हमे शंका है अतः तुम कहो कि यह कैसे संगत होगी ?

जवाब में गौतम ने कहा कि जो पदार्थ अस्तिभाव में है उसे हम उसी रीत से प्रतिपादन कर रहे हैं और नास्तिभाव में रहनेवाले पदार्थ को नास्तिभाव में प्ररूपणा करते हैं।

पुद्गल में रूप, रस, गंध और स्पर्श प्रत्यक्ष होने से वह रूपी है। अणु (परमाणु) यद्यपि छद्मस्थ को चक्षुग्राह्य नहीं है तो भी उसमें ये चारो गुण होने से केवली प्रत्यक्ष है इसी कारण से एक अणु जब दूसरे अणु के साथ जुड़ता है तब द्व्यणुक त्र्यणुक कहलाता है। अनेक परमाणु मिलकर जब स्कंध रूप में होता है तब हम सब, उसको देख सकते है अतः पुद्गल रूपी है।

जीवास्तिकाय में रूप, रस, गंध और स्पर्श न होने से अरूपी है। जन्म और मरण प्राप्त करता हुआ जीव किसी को भी देखने में नहीं आता है। हवा की गति भी जहां न हो वहां भी जीव जन्म सकता है। वहां से मरकर दूसरे स्थान में फिर से जन्म लेता है। जीव की गति को रोक सके ऐसा कोई देवदानव भी संसार में नहीं है।

कठिनाई से टूट सके ऐसी सुपारी में भी जीव उत्पन्न होता है यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं। अरूपी होने के कारण पूरे शरीर को शस्त्रों से खोलने पर भी डाक्टर जीव को नहीं देख सकते है तो भी शरीर की हलन चलन की क्रिया स्पष्ट दिखती है। अतः कहलाता है कि जीव अरूपी होने से अदृश्य है। चर्म चक्षुसे वह दिखता नहीं है। संसारी होने से जबतक वह शरीर पर्याय धारण करता है तबतक रूपी कहलाता है। वस्तुतः जीव, द्रव्यत्व–की अपेक्षा से अरूपी है। यह कहकर गौतमस्वामी समवशरण में आये। वंदना की तथा गोचरी की आलोचना की तथा भोजन पानी का उपयोग किया अर्थात भोजन किया।

॥ दसवां उद्देशक समाप्त ॥

जगत्पूज्य, नवयुगप्रवर्तक, शास्त्रविशारद, जैनाचार्य स्व. श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी म० के शिष्य शासन दीपक स्व. मुनिराज श्री विद्याविजयजी म० के शिष्यरत्न, न्याय, व्याकरण, काव्यतीर्थ पन्यास श्री पूर्णानन्दविजय (कुमार श्रमण) स्वयं को जैनागम का स्वाध्याय बना रहे श्रुत भक्ति हरभव में प्राप्त हो इसके लिए भगवतीसूत्र के दस उद्देशों से पूर्ण सातवां शतक गुर्जरभाषा में यथामति विवेचित किया है।

॥ शतक सातवां समाप्त ॥
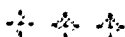
शतक आठवां उद्देशक—१

भगवतीसूत्र (विवाहपण्णत्ति) में अब आठवे शतक का अधिकार फरमाते द्वादशांगी के रचयिता पांचवे गणधर श्री सुधर्मास्वामी ने इस शतक में दस उद्देशक फरमाये है जो निम्न है—

(१) पुद्गलो के परिणाम का विस्तृत वर्णन ।

(२) आशीविष—आशीविषो के मालिको का कथन ।

(३) वनस्पति—संख्यात, असंख्यात और अनंत जीववाली वनस्प के भेद ।

(४) क्रिया—पांच प्रकार की क्रिया का वर्णन ।

(५) आजीविक—गोशाले सम्बन्धी का मंतव्य ।

(६) प्रासुक—शुद्ध आहार के दान का फल ।

(७) अदत्त—अदत्त संबंधी का वर्णन ।

(८) प्रत्यनीक—गुरु आदि के प्रद्वेषीयों का वर्णन ।

(९) बंध—प्रयोग बंध ।

(१०) आराधक—देश आराधक की वक्तव्यता

देवाधिदेव पतित-पावन घोर तपस्वी, परम दयालु सर्वज्ञ भगवान महावीरस्वामी गणधर भगवन्त, सामान्य केवली, जैन शासन के रक्षक, महा प्रभावशाली लब्धिवान मुनि, शील मूर्ति साध्वीजी महाराज आदि

पुद्गल का परिणमन (फेरफार) तीन प्रकार से होता है (1) प्रयोग परिणता (२) मिश्र परिणता (३) विस्त्रसा परिणता।

(१) जीव के प्रयोग विशेष द्वारा शरीर आदिरूप परिणत पुद्गल प्रयोग परिणत कहलाता है।

(२) जीव प्रयोग से और विस्त्रसा (स्वभाव) से परिणत हुए पुद्गलों को मिश्रपरिणत कहते हैं। प्रयोग परिणाम को त्याग किये बिना विस्त्रसा से दूसरे परिणाम को पाये हुए मृत कलेवर आदि मिश्र कहलाता है।

(३) स्वभाव से पुद्गलों के परिणमन को विस्त्रसा परिणाम कहते हैं। जैसे मेघ, धूप, छांव, इन्द्रधनुष आदि परिणाम प्रयोग परिणत पुद्गल पांच प्रकार के हैं :—

एकेन्द्रिय प्रयोग परिणत, बेइन्द्रिय प्रयोग परिणत, तेइन्द्रिय प्रयोग परिणत, चउइन्द्रिय प्रयोग परिणत, और पंचेन्द्रिय प्रयोग परिणत।

एकेन्द्रिय प्रयोग परिणत पुद्गल पांच प्रकार के हैं पृथ्वीकाय, अपकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय प्रयोग परिणत।

पृथ्वीकाय के भी सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय प्रयोग परिणत ऐसे ही अप, अग्नि, वायु और वनस्पति काय के जानना।

बेइन्द्रिय प्रयोग परिणत पुद्गल बहुत तरह के हैं। जैसे शंख बेइन्द्रिय प्रयोग परिणत। इस तरह बेइन्द्रिय में जितने प्रकार के जीव हैं वे सभी इसी प्रकार से जानना।

तेइन्द्रिय और चउरिन्द्रिय प्रयोगपरिणत पुद्गल भी कीड़ी आदि बहुत प्रकार के हैं जैसे तेइंद्रिय प्रयोग परिणत और भ्रमर आदि चउरिन्द्रिय प्रयोग परिणत। इसमें और चउरिन्द्रिय प्रयोग परिणत में सर्वत्र जीव जानना।

पंचेंद्रिय प्रयोग परिणत पुद्‌गल चार प्रकार के हैं नैरयिक, तिर्यन्च, मनुष्य और देवपचेंद्रिय प्रयोग परिणत।

रत्नप्रभा आदि सात नर्क पृथ्वी को लेकर नर्क पन्चेंद्रिय प्रयोग परिणत सात प्रकार के हैं।

तिर्यन्च पंचेंद्रिय प्रयोग परिणत पुद्‌गल तीन प्रकार के हैं। जलचर, स्थलचर और खेचर पंचेंद्रिय प्रयोग परिणत। जलचर तिर्यन्च पंचेंद्रिय प्रयोग परिणत दो प्रकार के हैं-सम्मूर्छिम जलचर तिर्यन्च पंचेंद्रिय प्रयोग परिगणत और गर्भज जलचर पंचेंद्रिय तिर्यंच प्रयोग परिणत। स्थलचर तिर्यंच योनिक पंचेंद्रिय परिणत दो प्रकार के हैं। चतुष्पद स्थलचर पंचेंद्रिय और परिसर्प स्थल चर पंचेंद्रिय प्रयोग परिणत।

सम्मूर्छिम और गर्भज रुप भूजपरिसर्प और खेचर दो प्रकार के हैं-मनुष्य पंचेंद्रिय प्रयोग परिणत पुद्‌गल भी सम्मूर्छिम और गर्भज दो प्रकार से हैं। भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष और वैमानिकदेव पंचेंद्रिय प्रयोग परिणत पुद्‌गल चार प्रकार के हैं—

भुवनपति के दस भेद रुप-भवनपति आदि पंचेंद्रिय प्रयोग परिणत पुद्‌गल दस प्रकार के है।

इस तरह आठ व्यंतर, पांच ज्योतिष, नव ग्रैवयक और पांच अनुत्तरोपपातिक देव के भेद भी जानने। (१ दंडक)

विवेचन—८४ लाख जीवयोनि के जीवों में सबसे नीचे स्थान में सूक्ष्म एकेंद्रिय जीव है और सबसे ऊँचे स्थान में विराजमान सर्वार्थसिद्ध देव हैं। ये सभी कर्म के भार से दबे होने से अपने-अपने किये कर्म को भुगतने के लिए शरीर धारण करते हैं। नर्क गति और एकेंद्रिय से पंचेंद्रिय तक की तिर्यंच गति दुर्गति कहलाती है। जहां पाप की राशी अधिक होती है और पुण्य की कम। मनुष्य और देवगगित में पुण्य राशी

अधिक और पाप की कम होती है। सभी ८४ लाख योनि के जीव अपनी योग्यतानुसार शरीर धारण करते हैं।

शरीर धारण करने के लिए औदारिक या वैक्रिय पुद्गलों की वर्गणाओं को ग्रहण करने के लिए प्रयोग विशेष करते हैं इससे उन स्थानों को प्राप्त करने की योग्यतावाले जीव स्वयं के अनुरूप ही शरीर बनाते हैं।

एकेन्द्रिय अवतार प्राप्त करने की योग्यतावाला जीव एकेन्द्रिय शरीर के योग्य ही पुद्गल लेता है। पृथ्वीकाय के जीव का शरीर पृथ्वी है, अपकाय के जीवों का शरीर पानी है, अग्निकाय के जीव का शरीर अग्नि है, वायुकाय के जीव का शरीर वायु है और वनस्पतिकाय के जीव का शरीर वनस्पति है। बेइंद्रिय अवस्था को प्राप्त करनेवाला जीव उसके योग्य पुद्गल लेता है। जैसे छोटे बड़े शंख के जीव का शरीर छोटे बड़े शंख होते हैं। अर्थात् शंख जीव का शरीर है। कौड़ी के जीव का शरीर कौड़ी होता है वैसे ही बेइंद्रिय जीव के शरीर समझना।

तेइंद्रिय जीव स्वयं के योग्य शरीर बनाता है। जैसे कीड़ी के शरीर में कीड़ी का जीव, कानखजूरा, खटमल, जूँ आदि के शरीर में वैसे वैसे जीव होते हैं। मनुष्य अवतारवाला अपने-अपने शुभाशुभ कर्म जैसे होते हैं वैसे प्रमाण में शरीर धारण करता है। सभी के शरीर अलग अलग होते हैं। इसी तरह देवगति के देवजीव और नर्क गति के नर्क जीव भी स्वयं के पुण्य-पाप भुगतने के लिए अच्छे या खराब शरीर धारण करते हैं। विशेष जानना यह है कि पुद्गल तो अनंतानंत हैं परन्तु वे सभी पुद्गल कर्मों की वर्गणाएं नहीं बन सकते हैं। अतः जैन शासन में औदारिक वैक्रिय-आहारक-तैजस-कार्मण, भाषा श्वासोश्वास और मनवर्गणा यह आठ प्रकार की कर्म वर्गणा होती है।

राग और द्वेष से भरी हुआ आत्मा जिस समय जैसा विचार करती है तब ऊपर की आठ वर्गणाओं में से कोई न कोई कर्म रज आत्मा के साथ

संमिलित होकर दूध तथा पाणी की तरह एकाकार बन जाती है। राग द्वेष का स्वामी जीव जैसे हर समय कर्मों को आभोग (इच्छा) से ग्रहण करते हैं वैसे ही अनाभोग से भी कर्म की वर्गणाओं को जीव संग्रहता है। तभी तो माता की कुक्षि में रहे हुए और बाहर आये हुए जीव के शरीर का आकार छोटा होता है और धीरे-२ ४०-५० वर्ष की उम्र में तो रूप, रंग, आकार, स्वभाव, ज्ञान, अज्ञान आदि में आकाश पाताल जितना फर्क पड़ता है। पूर्ण पर्याप्त जीव हर समय औदारिक, वैक्रीय, आहारक, तैजस, कार्मण, भाषा, श्वांसोच्छवास और मनोवर्गणा को ग्रहण करता ही रहता है।

मनुष्य अवतार में आये हुए जीव को दूसरे जीव के साथ शुभाशुभकर्म भुगतने होते हैं वे भुगतने के बाद केवल तैजस और कार्मण वर्गणा को छोड़कर बाकी की सभी वर्गणा आत्मा से अलग हो जाती हैं और दूसरे भव में गया हुआ जीव वहां फिर से उस भव के योग्य नई वर्गणाओं को ग्रहण करता है। इस तरह संसार का चक्र कर्म सत्ता के नियंत्रण में चलाता ही रहता है। (दंडक-१)

सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति एकेन्द्रिय प्रयोग परिणत पुद्गल पर्याप्त और अपर्याप्त के कारण दो दो प्रकार के होंगे जैसे पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय प्रयोग परिणत पुद्गल तथा पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय प्रयोग परिणत।

प्रत्येक के सूक्ष्म और बादर तथा उसमें भी पर्याप्त और अपर्याप्त भेद जानना। इसी प्रकार बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, रत्नप्रभादि सातों नर्क तथा सूक्ष्म, गर्भज, जलचर, स्थलचर, खेचर, तिर्यंच, पंचेन्द्रिय प्रयोग परिणत। गर्भज मनुष्य पंचेन्द्रिय प्रयोग परिणत तथा चारों निकाय के सभी देवता।

इस तरह सूक्ष्म एकेन्द्रिय से लेकर अनुत्तर विमान तक के जीव पर्याप्त तथा अपर्याप्त जानना। केवल समूर्च्छिम पंचेन्द्रिय जीव अपर्याप्त होने से एक भेद जानना। (२-दंडक)

इस दंडक में पर्याप्त तथा अपर्याप्त का विचार किया जो दोनों नाम-कर्म की प्रकृति रूप में है और नाम कर्म जड़ है।

जो जीव पर्याप्ति पूर्ण करता है वह पर्याप्त है तथा पर्याप्ति पूर्ण किये विना ही मर जाय तो वह अपर्याप्त है।

पर्याप्ति छः प्रकार की है—(१) आहार पर्याप्ति (२) शरीर पर्याप्ति (३) इंद्रिय पर्याप्ति यह तीन पर्याप्ति तो सभी जीव पूरी करते हैं। (४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति (५) भाषा पर्याप्ति और (६) मन पर्याप्ति।

चार गति में परिभ्रमण करते जीव को शरीरधारी रूप में जीने की जीवन शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं। पुद्गल परमाणु की मदद लिये विना जीव को जीने की शक्ति होते हुए भी वह शक्ति प्रगट नहीं होती है अर्थात् पुद्गल की मदद न हो तो शरीर में आत्मा की शक्ति प्रगट नहीं होती है।

पुद्गल परमाणु के समूह के निमित्त से आत्मा में प्रगट हुई और शरीरधारी रूप में जीने के लिए उपयोगी पुद्गल को परिणामित करने का कार्य करनेवाली आत्मा की शक्ति उनका नाम पर्याप्ति है।

आहार के विना शरीर की रचना नहीं होती है अतः शरीर की आवश्यकता है। शरीरका धारण होने पर भी इंद्रियों के विना जी सकते नहीं है अतः इंद्रियों की रचना भी करनी पड़ती है। श्वासोच्छ्वास विना कैसे जीये? अतः श्वास की भी आवश्यकता है। अधिक पुण्यवान जीव को बोलने और विचारने की भी जरूरत पड़ती है। इस प्रकार संसार के सभी जीवोंकी अपेक्षासे पर्याप्ति छः ही है तथा इसके अवांतर भेद हैं।

(लब्धि अपर्याप्त—जो जीव स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण न करे और मर जाय तो लब्धि अपर्याप्त कहलाता है इसमें अपर्याप्त नाम कर्म कारण रूप है।

(२) लब्धि पर्याप्त—जो जीव स्वयोग्य पर्याप्ति पूरी करे वह लब्धि पर्याप्त कहलाता है। इसमें पर्याप्त नामकर्म मुख्य है।

(३) करण अपर्याप्त—उत्पत्ति स्थान में समकाल में उसी के स्वयोग्य सर्व पर्याप्ति की रचना का प्रारंभ हुआ है। अब जहां तक वह कार्य समाप्त न हो अर्थात् सभी पर्याप्ति पूर्ण न हो तब तक करण अपर्याप्त कहलाता है। इसमें लब्धि पर्याप्त और लब्धि अपर्याप्त ये दोनों जीव करण अपर्याप्त होते है।

(४) करण पर्याप्त—स्वयोग्य सभी पर्याप्ति पूरी हो तब वह जीव करण पर्याप्त कहलाता है।

इस दूसरे दंडक में सूक्ष्म एकेन्द्रिय से लेकर अनुत्तरविमान तक के देव भी पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं। चाहे जैसे पुण्यशाली जीव का आयुष्य कर्म के सामने कुछ नहीं चलता है। लक्षाधिपति के घर जन्म लेने का पुण्य है और साथ साथ पाप कर्म के कारण आयुष्य कर्म अल्प है इसीसे आंख की पलक झपकने समय में जैसे माता की कुक्षि में आया तथा दूसरे ही क्षण यमराज का अतिथि बना (दंडक–२)

पर्याप्त और अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर पृथ्वीकाय से लेकर चउरिन्द्रिय प्रयोग परिणत जो पुद्गल है वे सभी औदारिक, तैजस तथा कार्मण प्रयोग परिणत पुद्गलवाले हैं। केवल पर्याप्त बादर वायुकाय को वैक्रिय पुद्गल अधिक है।

पर्याप्त या अपर्याप्त सातों नर्क के जीव को प्रयोग परिणत पुद्गल वैक्रिय तैजस और कार्मण होते है। पर्याप्त या अपर्याप्त संमूर्च्छिम जलचर प्रयोग परिणत औदारिक, तैजस और कार्मण पुद्गलवाले होते है। गर्भज पर्याप्त और अपर्याप्त चतुष्पद, उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प और खेचर को औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण शरीर होता है। संमूर्च्छिम

दूसरी इंद्रियों के अभाव में मनुष्य की तरह खाना, सूंघना, देखना, सुनना आदि नहीं कर सकता है।

एकेंद्रिय का कारण :

ऐसा एकेन्द्रियत्व कैसे प्राप्त होता है ?

जवाब में भगवान ने कहा कि–जीवमात्र को जब एक पुद्गल परावर्तकाल बाकि रहता है तब मोक्ष प्राप्ति की इच्छा होती है इसलिए सम्यग्धर्म की आराधना करता है जिस काल को चरम पुद्गल परावर्तकाल या चरमावर्तकाल कहते हैं। इसकी गिनती निम्न है:—

असंख्य वर्ष	१ पल्योपम
१० कोडाकोडी पल्योपम	१ सागरोपम
२० कोडाकोडी सागरोपम	१ कालचक्र
अनंतकालचक्र	१ पुद्गल परावर्तकाल

ऐसे अनंत पुद्गल परावर्तकाल से भ्रमण करते हुए आत्मा को जब एक पुद्गल परावर्तकाल शेष रहता है तब उसको मार्गानुसारिता, सम्यग्दर्शन, श्रावकधर्म और साधुधर्म की आराधना की आत्मदृष्टि प्राप्त होती है। अवकाश प्राप्त होते हुए भी यदि जिन धर्म के आराधना की प्राप्ति न हो तो वह जीव मोहवश हिंसा, झूठ आदि कार्यों में और किसी समय देवगति के सुख की लालसा से भी दयादान करता हो तो वह अधिक से अधिक २००० सागरोपम तक त्रस योनी में रहेगा। कभी देवलोक में, कभी नर्क में तथा कभी राजा महाराजा के भव में भटक कर २००० सागरोपम की मर्यादापूर्ण होनेपर उसे स्थावर योनी में जाना पड़ता है। सम्यग्दर्शन के अभाव में देवगति के सुख भुगतते हुए भी वहां विषय-वासना में ही स्वर्ग की आयुष्य पूरे करनेवाले

चलते, कपड़ा धोते या दूसरे कार्य करते कोई भी जीव मरे नहीं इसका पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। क्योंकि जीव हिंसा महापाप है (दंडक-२) तथा जीवदया महान धर्म है।

स्पर्शेन्द्रिय :

सूक्ष्म बादर, पर्याप्त–अपर्याप्तपृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय के जीव को प्रयोग परिणत स्पर्शइन्द्रिय नाम की एक ही इन्द्रिय होती है। बेइन्द्रिय जीव को स्पर्शेन्द्रिय और रसनइंद्रिय, तेइंद्रिय जीव को घ्राणेन्द्रिय अधिक, चउरिन्द्रिय को चक्षुरिन्द्रिय अधिक और पंचेन्द्रिय को स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु और श्रोत ये पांचो इंद्रिय होती है। नारक, देव, गर्भज तिर्यंच और मनुष्य पंचेन्द्रिय होते है।

इन्द्रियों की प्राप्ति :

इस चौथे दंडक में इंद्रियों की अपेक्षा से विचार किया है। मकान की खिड़की से जैसे मकान मालिक पदार्थ का ज्ञान करता है वैसे ही शरीर रूपी मकान में पांचो इंद्रिय रूप खिड़कियों से यह आत्मा प्रत्येक पदार्थ का, स्पर्श, आस्वादन, सूंघना, देखना तथा सुनने का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ बनता है। इंद्रिय रहित जीव जी सकता नहीं है।

प्रत्येक इंद्रिय अपना-२ काम करती है। हाथ में रखे हुए लड्डू को हाथ खा नहीं सकता है। पांव के लगा हुआ इत्र पांव सूंघ नहीं सकता है क्योंकि खाने का या सूंघने का काम जीभ तथा नाक का है। तुम लड्डु को मुंह में रखोगे जीभ शीघ्र ही लड्डू को खा जायगी तथा तृप्ति आत्मा को होगी।

एकेन्द्रिय जाति के नाम कर्म को लेकर एकेन्द्रिय अवतार को प्राप्त हुए जीव निकृष्टतम पाप के उदय से उन को एक ही स्पर्शेन्द्रिय होती है।

दूसरी इंद्रियों के अभाव में मनुष्य की तरह खाना, सूंघना, देखना, सुनना आदि नहीं कर सकता है ।

एकेंद्रिय का कारण :

ऐसा एकेन्द्रियत्व कैसे प्राप्त होता है ?

जवाब में भगवान ने कहा कि–जीवमात्र को जब एक पुद्गल परावर्तकाल बाकि रहता है तब मोक्ष प्राप्ति की इच्छा होती है इसलिए सम्यग्धर्म की आराधना करता है जिस काल को चरम पुद्गल परावर्तकाल या चरमावर्तकाल कहते हैं । इसकी गिनती निम्न है:—

असंख्य वर्ष	१ पल्योपम
१० कोड़ाकोड़ी पल्योपम	१ सागरोपम
२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम	१ कालचक्र
अनंतकालचक्र	१ पुद्गल परावर्तकाल

ऐसे अनंत पुद्गल परावर्तकाल से भ्रमण करते हुए आत्मा को जब एक पुद्गल परावर्तकाल शेष रहता है तब उसको मार्गानुसारिता, सम्यग्दर्शन, श्रावकधर्म और साधुधर्म की आराधना की आत्मदृष्टि प्राप्त होती है । त्रसकाय प्राप्त होते हुए भी यदि जैन धर्म के आराधना की प्राप्ति न हो तो वह जीव मोहवश हिंसा, झूठ आदि कार्यों में और किसी समय देवगति के सुख की लालसा से भी दयादान करता हो तो वह अधिक से अधिक २००० सागरोपम तक त्रस योनी में रहेगा । कभी देवलोक में, कभी नर्क में तथा कभी राजा महाराजा के भव में भटक कर २००० सागरोपम की मर्यादापूर्ण होनेपर उसे स्थावर योनी में जाना पड़ता है । सम्यग्दर्शन के अभाव में देवगति के सुख भुगतते हुए भी वहां विषय-वासना में ही स्वर्ग की आयुष्य पूरे करनेवाले

आशीविष का अर्थ करते यह है आशी अर्थात् दाढ़। उसके अन्दर में रहा हुआ विष (जहर)। सामान्य प्रकार से इसका अर्थ जहरवाला प्राणी होता है क्योंकि ८४ लाख जीव योनी में थोड़े ही जीव जहर-बिना के हैं और अधिक जहरवाले हैं। सभी के दाढ़ में जहर नहीं होता है किन्तु सर्प जाति में ही प्रायः करके दाढ़ में जहर होता है। जबकि वृश्चिक के पूंछ में जहर होता है, पंचेन्द्रिय नाग की दृष्टि में जहर था तो किसी के पेट में जहर होता है।

इसके दो भेद हैं-(१) जात्याशीविष (२) कर्माशीविष। जन्म से ही जो आशीविष होते हैं वे जात्याशीविष और शाप आदि के कारण जो दूसरे को उपघात करते हैं वे कर्माशीविष होते हैं।

पहले भेद में सर्प, विच्छु, मेंढक और मनुष्य जाति यह जात्याशीविष के चार भेद हैं।

विच्छु आदि जाति का तीनों काल में सद्भाव ही होता है अर्थात् किसी भी काल में उनका अभाव नहीं है। कर्माशीविष में नर्क जीव को छोड़कर बाकी सभी तिर्यंच, नर और देव को कर्माशीविष कहा है। एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीव कर्माशीविष नहीं होते हैं।

संमूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंच कर्माशीविष नहीं हैं। गर्भज तिर्यंच में भी असंख्यात वर्ष के आयुष्यवाले भोग भूमि में जन्म लिये हुए तिर्यंच भी कर्माशीविषवाले नहीं हैं। इस तरह कर्मभूमि में जन्म लिये हुए अपर्याप्ता और संमूर्छिम मनुष्य कर्माशीविष नहीं हैं। अपर्याप्त संख्यात वर्ष के आयुष्यवाले कर्म भूमि के गर्भज मनुष्य भी कर्माशीविषवाले नहीं हैं। अपर्याप्त भवनपति व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक देव अपर्याप्त अवस्था में ही कर्माशीविषवाले होते हैं।

बारह देवलोक में आनत–प्राणत–आरण और अच्युतदेव तथा कल्पातीत नवग्रैवयक और पांच अनुत्तर देव कर्माशीविषवाले नहीं होते हैं। शाप

आदि क्रिया के द्वारा "मैं किसी का उपघात करूं" इस आशय से ही उनको आशीविष नाम की लब्धि प्राप्त होती है। इसी के द्वारा ये देवलोक में जाते हैं पर पर्याप्त अवस्था प्राप्त होने से पहले ही ये आशीविषत्व रहते हैं जबकि पर्याप्त अवस्थावाले कर्मभूमि में गर्भज मनुष्य और तिर्यंच जो संख्यातवर्ष के आयुष्यवाले हैं वे कर्माशीविषवाले हैं।

ऐसे जीवों को विरति धर्म, गुरुकुल वास, स्वाध्यायबल और वैराग्य भाव उत्पन्न न हो तो उनकी पूरी जिन्दगी, खाने पीने, उठने, बैठने बोलने, लिखने आदि क्रियाओं में कर्माशीविष होने से वे परघातक परनिंदक तथा परद्रोहक ही रहेंगे।

इन कर्मों के विष को मारने के लिए स्वाध्यायबल खूब ही आवश्यक है और यथाशक्य पांचो इंद्रियों को काबू में रखने से ही अपने जीव का विष कम होगा नहीं तो कहते हैं कि—'पटेल की जीभ में, ब्राह्मण की आंख में और बनिये के पेट में जहर होता है।" इसी जहर के कारण मनुष्य स्वयं की सगी माता, धर्मपत्नी, पुत्र, विद्यागुरु या धर्मगुरु के भी स्नेहभाजन नहीं बन सकते हैं।

बहुत से ऐसे मनुष्य को भी हम क्या नहीं जानते कि 'आप गरजे आधो पड़े..." स्वयं की गरज हो तबतक सामनेवाले के पांव चाटेगा और गरज मिट जानेपर उसी मनुष्य का कट्टर वैरी बन जाता है। जिस गुरुने संसार की माया में से रजोहरण देकर अर्थात् दीक्षा देकर उपकृत किया हो तो भी ऐसे उपकारी गुरु का कट्टर दुश्मन बन जाता है।

महाउपकारी, तरण तारण जीते जागते गुरुदेव के कट्टर वैरी को स्थापनाचार्यजी भी कैसे तार सकेंगे? गुरुकृपा से प्राप्त हुई विद्या से यशस्वी बनने के बाद यदि वह गुरु के छिद्रों को ही देखना सीखेगा तो वह विद्या उसको मुक्ति कैसे दिलायेगी?

इन सभी में कर्माशीविष ही काम कर रहा है।

छद्मस्थ मनुष्य दस पदार्थों को जानता नहीं है :

हे गौतम ! छद्मस्थ मनुष्य सर्व भाव से या प्रत्यक्ष से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, मुक्त जीव, परमाणु, पुद्गल, शब्द, गंध, वायु, यह जीव जिन होगा कि नहीं ? तथा यह जीव सभी दुःखों का नाश करेगा कि नहीं ? ये उपरोक्त दस पदार्थ छद्मस्थ मनुष्य जान सकने में समर्थ नहीं है ।

छद्मस्थ अर्थात् अवधिज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञानरहित जीव जानना क्योंकि विशिष्ट अवधिज्ञानी भी अमूर्त ऐसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय को जानते नहीं हैं । वे मूर्त परमाणु को जान सकते हैं क्योंकि इस ज्ञान का विषय मूर्त द्रव्य है । परमाणु भी मूर्तमान होने से विशिष्ट अवधिज्ञानी उसको देखने में समर्थ है ।

मूर्त घटादि पदार्थ ऐसे हैं जिसे अवधिज्ञानी जान सकते हैं परन्तु इनमें रहे संपूर्ण अनंत पर्याय को तो केवल ज्ञानी ही जान सकते हैं । सर्वभाव का अर्थ बिल्कुल प्रत्यक्ष करना । मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी धर्मास्तिकाय आदि को साक्षात् जानते नहीं हैं पर श्रुतज्ञान की सहायता से जानते हैं । मति-श्रुत का विषय अमुक पर्याय सहित द्रव्य ही है । जिनको केवल ज्ञान-केवल दर्शन उत्पन्न हुआ है वे अरिहंत जिन केवली सर्वभाव से संपूर्ण पर्याय के साथ द्रव्यों को जानते-देखते हैं ❖❖

ज्ञान विषयक प्रश्नोत्तर :

ज्ञान गुण है तथा आत्मा गुणी है गुण अनादिकाल से स्वतः सिद्ध है । जिसकी पहले भाग में विस्तार से चर्चा हो गई है ।

सफेद वस्तु उपर की सफेदी स्वतः सिद्ध होने पर भी जब उसकी सफेदी पर बाहर का मैल जैसे जैसे लगता है वैसे वैसे सफेदी कम होती जाती है । परन्तु पानी में डालने से धीरे धीरे मैल उतरता जाता है वैसे वैसे पहले जैसी सफेदी फिर से दिख जाती है ।

इसी प्रकार से अनादिकाल का मिथ्यात्व, अविरति कषाय आदि का ल आत्मा पर लगा हुआ है और प्रतिक्षण नया लगता जाता है। इसी ल के कारण ज्ञानगुण मन्द पड़ते पड़ते सूक्ष्म निगोद के जीवों में सर्वथा न्द हो जाता है।

अकाम निर्जरा जैसे जैसे होती जाती है वैसे वैसे ज्ञानगुण फिर से ढ़ता जाता है परन्तु प्रमादी जीवात्मा फिर से मोहमाया में आकर कर्म ा आवरण उपार्जन करती है और स्वयं के ज्ञानगुण को मन्द कर देती है। स तरह किसी समय ज्ञानगुण प्रकाशित होता है तो दूसरे समय कम ोता है। किसी समय ज्ञान गुण की अनेक लब्धियों को प्राप्त करने के रूप आत्मा भाग्यशाली बनती है तो किसी समय अज्ञान के अंधकार के ालने में खेलते यह जीव दूसरे के हाथ से पेट भरकर मार खाता है।

स्वयं के अन्दर रहे हुए ज्ञान गुण के भेद जानने के लिए ही गौतम वामी ने प्रश्न पूछे हैं जिससे जीव मात्र स्वयं के ज्ञान गुण को देख तथा ान सके।

़ प्रभु ! ज्ञान के कितने प्रकार हैं ?

जवाब में भगवान ने कहा कि—हे गौतम ! ज्ञान के पांच भेद हैं। ाभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान) श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्यव ज्ञान ौर केवलज्ञान।

आभिनिबोधिक—अभिनिबोध शब्द को 'इकण' प्रत्यय लगाने से ह शब्द बनता है। इसमें 'अभि' "नि" यह दो उपसर्ग अव्यय हैं। अभी' अर्थात् पदार्थ के सन्मुख या इंद्रियों के सन्मुख रहा हुआ पदार्थ, योंकि इंद्रियों की विपरीत दिशा में रहा हुआ पदार्थ इंद्रियां ग्रहण हीं करती हैं। विषयों को ग्रहण करनेवाली इंद्रियों को भी स्वयं की ोग्यता है। 'नि' अर्थात् नियत—संशयादि रहित अपने अपने विषय ह ग्रहण करे।

अनंतशक्ति की अधिकारी आत्मा जब ज्ञानावरणीयादि कर्म के आवरण से आच्छादित हो जाती है तब आत्मा की ये शक्तियां भी आवृत होती है परन्तु मोक्षपुरुषार्थ से वह आत्मा जब आवरणों को हटाती जाती है तब उतनी मात्रा में लब्धिएँ भी प्राप्त होती जाती है।

सारांश कि प्रत्येक आत्मा में जो भिन्न भिन्न विकास दिखता है उसमें ईश्वर या देव देवी की मेहरबानी नहीं है पर आत्मा स्वयं संयमशील, तपस्वी, ध्यानी और पौद्गलिक भाव की त्यागी जितने प्रमाण में में बनती है उतना ही आत्मविकास होता जाता है। जैसे अत्यन्त गन्दे वस्त्र को साबुन की मात्रा थोड़ी मिलेगी तो वस्त्र बिलकुल स्वच्छ नहीं होगा यदि संपूर्ण मात्रा में साबुन उपलब्ध होगा तो वस्त्र स्वच्छ होगा वैसे ही आत्मा का मोक्ष पुरुषार्थ जितना बलवान होगा उतने ही अंश में वह लब्धियों का मालिक बनेगा। लब्धिये १० प्रकार की है– (१) ज्ञान लब्धि (२) दर्शन–लब्धि (३) चारित्र लब्धि (४) चरित्रा चरित्र लब्धि (५) दान लब्धि (६) लाभ लब्धि (७) भोग लब्धि (८) उपभोग लब्धि (९) वीर्य लब्धि (१०) इन्द्रिय लब्धि। प्रत्येक आत्मा को स्पष्ट या अस्पष्ट ऊपर की दस लब्धि अवश्य होती है परन्तु लब्धियों को आवृत करनेवाले इन कर्मो के क्षय या क्षयोपशम से आत्मा को ज्ञान–दर्शन–चारित्र की जो शक्ति प्राप्त हो उसे लब्धि कहते हैं।

(१) ज्ञान लब्धि—पांच प्रकार की है। मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मतिज्ञान लब्धि, श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से श्रुतज्ञान लब्धि, अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान लब्धि, मनः पर्यवज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मनःपर्यवज्ञान लब्धि और केवलज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से केवलज्ञान लब्धि प्राप्त होती है।

गत भव में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की आराधना की हो तब यह

सम्यग्ज्ञान मनुष्य को प्राप्त होता है। आंतरिक जीवन में जितने अंश में शुद्धता, पवित्रता और सरलता होती है उतने प्रमाण में मति और श्रुत-ज्ञान की लब्धियों का विकास होता है। ऐसे भाग्यशाली को मतिज्ञान की लब्धि समाज के हित के लिए, संघ के योग क्षेम के लिए, शासन की सेवा के लिए तथा दीन दुःखी की रक्षा के लिए काम में आयेगी। श्रुतज्ञान की लब्धि मानवमात्र को सम्यग्ज्ञान देने के लिए, समाज तथा संघ को द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की जानकारी देने में काम आयेगी। जैसे जैसे मति और श्रुत ज्ञान शुद्ध होगा वैसे वैसे सम्यग्दर्शन तथा सम्यकचरित्र में भी शुद्धि होगी। सारांश यह कि दर्शन, और चरित्र को शुद्धि के लिए सम्यग्ज्ञान की अनिवार्यता निश्चित है। आज भरत तथा ऐरावत क्षेत्र के मनुष्य के लिए अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान के द्वार बन्द होने का मुख्य कारण आंतरिक जीवन की शुद्धि का अभाव, काम, क्रोध, लोभादिप्रपंच में फँसा हुआ मनही काम कर रहा है।

चरित्र की विशिष्ट प्रकार से शुद्धि होते ही अवधिज्ञान मनः पर्यवज्ञान और घाती कर्मों का संपूर्ण क्षय होने पर केवलज्ञान की लब्धि मिलती है।

(२) दर्शन-लब्धि—शुद्ध श्रद्धानुरूप आत्मा का रुचि परिणाम होनेपर जो आत्मदर्शन हो वह दर्शनलब्धि है। दर्शन मोहनीय कर्म इस लब्धि को आवृत करता है। जो मोहराजा के सभी सिपाहियों में मुख्य सिपाही है क्योंकि जबतक आत्मा को स्वयं का ही दर्शन न हो तब तक जंगल के भैंसे जैसी गति होती है। दर्शन मोहनीह कर्म के बंध के निम्न प्रकार है:—

वीतराग देव, तीर्थंकर प्रणीत श्रुत, जैन संघ, तथा जैन धर्म का द्वेषी बनकर उसका अवर्णवाद बोलना, चारों प्रकार के देव की निंदा

करनी पूर्वग्रह में फंसकर मिथ्यात्व का तीव्र परिणाम रखना।

अहिंसा–संयम और तप–धर्म की आराधना करनेवाले धार्मिक की निन्दा करनी हिंसा, झूठ, मैथुन आदि उन्मार्ग की देशना देनी, अनर्थकारी प्रसंग में कदाग्रह रखना तथा असंयत या दुराचारी की पूजा करनी तथा "ऐसे कार्य करने से मेरी दुर्गति होगी" ऐसा विचार किये बिना ही चाहे जैसे अनिष्ट कार्य में प्रवृत्ति करनी। विद्यागुरु, धर्म गुरु, संयमदाता, ज्ञानदाता और पूजनीय माँ–बाप का अपमान करना तथा निंदा करनी इत्यादि कार्य करने से दर्शन मोहनीय कर्म का उपार्जन करता हुआ मनुष्य अगले भव में दर्शन लब्धि प्राप्त नहीं कर सकता है।

परंतु भव परंपरा में भ्रमण करते जीव के बहुत बहुते कर्म जब नाश होते हैं तब किसी भव में वह भाग्यशाली दर्शन लब्धि प्राप्त करता है।

(३) चारित्र–लब्धि—सम्यकचरित्र, पवित्र जीवन, हृदय की सरलता आदि को देनेवाली यह लब्धि है। इस लब्धि के प्रताप से ही मनुष्य मात्र को स्वयं के आत्मा की शुद्धि में वृद्धि होती है। खाते–पीते –सोते–बोलते–उठते स्वयं के चरित्र को जरा भी मलीनता न लगे कषाय की भावना न हो तथा आत्मा में गन्दे परिणाम न हो इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

(४) चारित्राचारित्र लब्धि—अनंतानुबंधी कषाय का उपशम होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है आत्मा को स्वयं का विचार आता है और अप्रत्याख्यान कषाय का क्षयोपशम जीवात्मा को कुछ अंश में असंयम अर्थात् सर्वथा छोड़ देनेवाले निरर्थक पाप के त्याग की भावना और पापी पेट तथा गृहस्थाश्रम के निभाव के लिए अनिवार्य रूप से करते हुए पापों में संयम की मर्यादा उसको चारित्रा चारित्र देश–विरति धर्म की लब्धि कहते हैं।

चराचर संसार में अनंतानंत जीवों को दर्शनलब्धि या चारित्र लब्धि प्राप्त नहीं हुई है। उस अपेक्षा से चारित्राचारित्र लब्धि का मालिक लाखों गुणा श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे समझपूर्वक पाप का त्याग कर सके हैं, भविष्य में पापी पेट के लिए पाप को करते हुए भी उनको मर्यादित करेंगे और ऐसा होनेपर ये भाग्यशाली पापभीरु होने के कारण ही सर्वथा असंयमित जीवों से बहुत ही श्रेष्ठ है।

(५) दानलब्धि—दानान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम होने पर आत्मा को दानलब्धि प्राप्त होते ही दानशक्ति का विवेकपूर्वक सदुपयोग होता है। इसी से इस लब्धि का मालिक स्वयं से बड़े का मान तथा छोटे को दान देने के लिए समर्थ बनता है क्योंकि बड़े को मान तथा छोटे को दान देना जीवन का सर्वश्रेष्ठ कार्य है। जिसको यह लब्धि प्राप्त हुई नहीं है ऐसे दानान्तराय कर्मी आत्मा के पास बहुत होनेपर भी दूसरे को कुछ दे सकते नहीं है। ऐसी स्थिति में द्रव्य तथा धन से कृपण बने हुए जीव का संपूर्ण संसार इसलिए शत्रु बनता है कि ये विषमतावाद नाम के राक्षस को ही संसार को भेट देनेवाले बनते हैं। अर्थात् वैषम्यवाद की उत्पत्ति कृपण श्रीमंतों से होती है।

संसार को शेर, बिच्छु हिंसक प्राणी से जितना नुकसान नहीं होता है उससे अनेक गुणा विषमतावाद को जन्म देनेवाले और प्रचार करनेवालों से होता है जो पूरे संसार को नुकसान करनेवाले होते हैं।

(६) लाभलब्धि—लाभान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से इस लब्धि की प्राप्ति होती है। मानव मात्र की महत्त्वकांक्षा होती है कि मुझे अलग अलग प्रकार का लाभ हो तथा मैं सुखी बनूं। परंतु पूर्वभव के लाभांतराय कर्म के उदय से 'कुए की छाया कुंए समाई' कुंए की छाया कुंए में ही समा जाती है वैसे ही उसकी एक भी महत्त्वकांक्षा फलीभूत नहीं होती है।

दूसरे के द्रव्य की चोरी, कम परिश्रम से अधिक धन प्राप्त करने की नीयत, कठोर जगह करके भी दूसरे की जेब खाली करनेवाला, स्वयं के हक की नौकरी के समय भी कामचोरी, जिसका नमक खाते हैं। उसी सेठ के प्रति वफादारी रहित जीवन, झूठा ब्याज, माल में मिलावट, झूठे मार्गल, विश्वासघाती और हल्का माल बेचनेवाला मनुष्य लाभांतराय कर्म बांधता है। सारांश यह कि दूसरे के लाभ को अंतराय करनेवाला इस कर्म की बेड़ी में फंस जाता है।

इस प्रकार बंधे हुए कर्म के परिणाम से अनेक भव तक यह मनुष्य दास, गरीब और नौकरी आदि करके स्वयं का निर्वाह करनेवाला होता है। सेठ बनने की इच्छा बहुत है परंतु बन सकता नहीं है, मोटर तथा बंगले की इच्छा बहुत है पर लाभांतराय कर्म के कारण मन की मन में ही रह जाती है।

अनेक भव तक इस कर्म को भुगतते हुए जैसे जैसे कर्म की निर्जरा होती है वैसे वैसे जीव को अनेक प्रकार की लाभ की लब्धियां भी प्राप्त होती हैं। इसीसे ही मनुष्य को मनपसन्द भोजन, बंगला, अच्छे कपड़े, आभूषण, पुत्र-परिवार आदि की प्राप्ति होती है।

(७) भोगलब्धि—भोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम होनेपर जीव को यह लब्धि प्राप्त होती है जिससे खान पान के आनंद में अंतराय नहीं आता है, नहीं तो गरमागरम रसोई तैयार है परन्तु इस कर्म के कारण उसी समय ऐसे निरर्थक कार्य आ जाते हैं कि बाद में ठंडे भोजन को ही बेमन से खाना पड़ता है।

जब में जब दुर्दैव का अन्यवाद हो तब मनुष्य को इच्छित भोजन भी कहां मिलता है?

इस कर्म की उपार्जना इस प्रकार होती है:—

स्वार्थ या द्वेषवश दूसरे की रोटी हड़प करना, स्वयं के पांच रुपये के

स्वार्थ के लिए दूसरे के हजारों, लाखों रुपये का नुकसान करना, दीन दुःखी को परेशान करना जिससे उनके बाल बच्चे को भूखा मरना पड़े।

स्वयं के बड़े या छोटे भाई के भाग में आई हुई रकम, घर आदि को स्वयं की वाचालता से हड़प लेना। जिससे भाई को भूखा मरना पड़े। ऐसे कार्य करने से अंतराय कर्म का बंध होता है।

(८) उपभोग-लब्धि—उपभोगांतराय कर्म के क्षयोपशम पर उपभोग-लब्धि की प्राप्ति होती है। इससे स्वयं के गृहस्थाश्रम में अन्तिम समय तक हानि नहीं होती है।

उपभोगांतराय कर्म के कारण से प्राप्त गृहस्थाश्रमी भी बीच में विश्वासघात करानेवाली बनेगी। द्रव्योपार्जन में किये हुए पाप को लेकर मिली हुई लक्ष्मी से बांधे हुए बंगले का उपभोग करने के पहले ही उनके हाथ में से चले जायेंगे या उन मकानों में किया हुआ वास उनके घर में आनंद मंगल तो नहीं बढ़ायेगा परन्तु भिन्न भिन्न तरह की बीमारियें खड़ी कर देगा।

पूर्वभव के इन कर्मों के कारण संपूर्ण जीवन टूटे फूटे मकान में जहां गर्मी तथा गन्दगी है, हवा प्रकाश नहीं है। ऐसे स्थान में गुजारना पड़ेगा।

दूसरे के स्वच्छ तथा रंगबिरंगे वस्त्र, सुन्दर पुत्र पुत्रियों को देखकर उनका अंतिम श्वांस आर्तध्यान में ही पूरा होगा इत्यादि कार्य इस कर्म के आभारी हैं:

इस कर्म के बंधक जीव?

[१] मैथुन भावना में मस्त बनकर दूसरे की बहन बेटी तथा उनकी स्त्रियों को फुसलाकर उनका घर बिगाड़नेवाला।

[२] कन्या के कन्यावत को विधवा के विधवाव्रत को बिगाड़नेवाला मनुष्य यह कर्म इसलिए बांधेगा कि जब उस स्त्री को स्वयं के सतीत्व

छेदकर फिर से व्रतारोपण किया जाय वह छेदोपस्थापनीय चारित्र दो प्रकार का है।

(१) सातिचार—महाव्रतों का घात होनेपर फिर से व्रतग्रहण करे वह सातिचार छेदोपस्थापनीय चरित्र लब्धि है।

(२) निरतिचार—इत्वर सामायिक व्रतधारी मुनि को फिर से महाव्रत उच्चराना या पहले तीर्थंकर के मुनियों को पीछे से होनेवाले तीर्थंकरो के शासन में प्रवेश कराने रूप, जैसे पार्श्वनाथ भगवान के मुनियों ने महावीर स्वामी के शासन में प्रवेश किया वह निरतिचार चारित्रोपलब्धि है।

(३) परिहार विशुद्धि चारित्रलब्धि—तपस्या विशेष द्वारा आत्मा की विशेष शुद्धि, परिहार विशुद्धि चारित्रलब्धि है।

(४) सूक्ष्म संपराय चारित्रलब्धि—जिस चारित्र में कषाय का थोड़ासा उदय हो वह सूक्ष्म संपराय चारित्रलब्धि दो प्रकार की है।

उपशम श्रेणी से गिरते जीव को दशमे गुणठाणे में पतित दशा के अध्यवसाय होने से संक्लिश्यमान सूक्ष्म संपराय और उपशम श्रेणी से चढ़ते जीव को दशमे गुणठाणे में विशुद्ध अध्यवसाय होने से विशुद्धमान सूक्ष्म संपराय चारित्रलब्धि होती है।

इस चारित्र में २८ मोहनीय प्रकृति में संज्वलन लोभ के बिना २७ मोहनीय कर्म प्रकृति के क्षय होने के बाद और संज्वलन लोभ में भी बादर लोभ का उदय-नाश होने के बाद जब केवल एक सूक्ष्म लोभ का ही उदय होता है वह सूक्ष्म संपराय नाम के गुणठाणे के भाग्यशाली जीव को यह परिहार विशुद्धि चारित्रलब्धि प्राप्त होती है।

(५) यथाख्यात चारित्र लब्धि—जिस चारित्र में कषाय के उदय का सर्वथा अभाव हो, जिसके आचरण से सुविहित जीव मोक्ष की तरफ प्रयाण करे वह यथाख्यात चारित्र है। उसके चार भेद हैं:—

(१) उपशांत यथाख्यात—११ में गुण स्थान में मोहनिय कर्म शान्त होता है और बिल्कुल शांति होने से उनका उदय नहीं हो तो यह उपशांत यथाख्यात कहलाता है।

(२) क्षायिक यथाख्यात—१२-१३-१४ में गुणस्थान में मोहनीय कर्म क्षय होने से जो चारित्र होता है वह क्षायिक यथाख्यात चारित्र है।

(३) छाद्मस्थिक यथाख्यात—११-१२ वे गुणस्थान में दोनों प्रकार का छाद्मस्थिक यथाख्यात चारित्र कहलाता है।

(४) कैवलिक यथाख्यात—१३-१४ गुणस्थान के केवलज्ञानी का क्षायिक भाव का चारित्र वह केवली यथाख्यात चारित्र है।

चारित्राचार लब्धि—मूल और उत्तर गुण की विवक्षा नहीं होने से एक ही भेद है। अप्रत्याख्यान कषाय के क्षयोपशम की विवक्षा के कारण भेद कल्पना नहीं है।

वीर्य लब्धि तीन प्रकार की है—(१) बालवीर्य लब्धि (२) पंडितवीर्य लब्धि (३) बालपंडित वीर्य लब्धि।

(१) बालवीर्य-लब्धि—असंयमी, विरति रहित मनुष्य के असंयम-योग में (मन वचन काया) जो प्रवृति हो या वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से और चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से यह लब्धि प्राप्त होती है जिससे अज्ञान, अविवेक और अविनयपूर्वक पापों से भरे हुए अनुष्ठानों में प्रवृति हो वह बालवीर्य लब्धि है।

(२) पंडितवीर्य लब्धि—संयमी, संयमधारी, इन्द्रिय तथा मन को निग्रह करनेवाला हो वह पंडित है। जिनको संयम के योग में प्रवृत्ति हो वह पंडितवीर्य लब्धि है।

(३) बाल पंडितवीर्य लब्धि—कुछ अंश में व्रत लेकर पाप के द्वार बन्द किये हैं और कुछ द्वार बन्द नहीं किये वह श्रावक बालपंडितवीर्य की लब्धि वाला है।

इस प्रकार के जीवों में से साधारण वनस्पतिकाय के जीव हैं जो अनंतानंत और अनन्त संख्या के मालिक हैं। हमारी आत्मा उत्कृष्ट पुण्यवान होने पर जैसे मनुष्य शरीर में रहती है, वैसे निकृष्ट पाप के उदय से ये अनंतानंत जीव वनस्पति शरीर में रहते हैं। ऐसे स्थान की अपेक्षा से सभी जीव एक समान होकर भी कर्मोदय को लेकर सभी के विभाग अलग अलग हैं।

जैनागम कहता है कि, ये जीव यहां स्वतन्त्र अपने ही कर्म के पाप फल को भुगतते हैं, तो भी मनुष्य अवतार को प्राप्त किये हुए भाग्यशाली को स्वयं के दया धर्म का विचारकर उन जीवों के प्रति हमेशा दया भाव रखना चाहिए।

वनस्पति जीव का निरर्थक हनन करना उन दयावन्त आत्मा को शोभा नहीं देता है। प्रत्येक अनुभवी महापुरुष कहते हैं कि प्रकृति के अनुकूल रहनेवाला मनुष्य प्रकृति का आशीर्वाद प्राप्त करता है और प्रतिकूल रहनेवाले को शाप मिलता है।

जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य के लिए खाने, पीने, सोने, पहनने के लिए जो कोई पदार्थ काम आते हैं वे सभी लगभग वनस्पति रूप ही हैं। मनुष्य मात्र जो कपड़े पहनते हैं वे सभी वनस्पति से बने हुए रहते हैं। रुई यह भी वनस्पति है। जो कुछ भोजन खाते हैं जैसे–गेहूँ चना आदि धान्य और सब्जी से लेकर फल तक के पदार्थ वनस्पति से ही उत्पन्न होते हैं।

जिस मकान में हम रहते हैं वे पृथ्वीकाय में से ही बनते हैं। मकान की खिड़कियाँ दरवाजे सोफा, पलंग, रजाई आदि पदार्थ भी वनस्पति जन्य हैं।

दूध, मलाई, दही, मक्खन, छाछ आदि पदार्थ को खाकर पुष्ट होनेवाला मनुष्य भी वनस्पति का भोक्ता ही होता है। क्योंकि जंगल

ा खेत में उत्पन्न होनेवाली घास, कपास, सब वनस्पति ही है। गाय ा भैंस जो खाते हैं, उसी से गाय के शरीर में दूध होता है, अर्थात् यह ूध भी वनस्पति जन्य है।

इस प्रकार मनुष्य मात्र पर अनंत उपकार करनेवाली यह वनस्पति मृत्यु के समय भी दवा औषध आदि तथा मरने के बाद भी शरीर को जलाने के लिए लकड़ी ही काम आती है।

मानव की मानवता तथा दयालुता :

मनुष्य मात्र को यह समझना है कि वनस्पति का भोक्ता मैं अकेला नहीं परन्तु मानव मात्र उसका भोक्ता है। अतः मैं दयालु बनूं तथा जान बुझकर किसी भी पदार्थ का दुरुपयोग नहीं होने दूं। वैसे ही पृथ्वीपर जन्मे हुए प्रत्येक मनुष्य को सब्जी, भाजी फल, धान्य, दूध, दही और मलाई सुलभ बने उसके लिए मैं मेरी आवश्यकता से अधिक नहीं खरीदूं। इसप्रकार दयावान मनुष्य को बाजार में बिकती हुई वस्तुएँ सभी को प्राप्त हो यह ध्यान रखना चाहिए। साग, सब्जी, फल, धान्य आदि के उत्पादन में प्रकृति जब उदार है तो मनुष्य को भी परिग्रह नियंत्रण का भाव रखना चाहिए। जिससे सभी वस्तुएं सभी को आसानी से मिल सके।

जैसे एक गांव में हजार मनुष्य की बस्ती है और दूध का उत्पादन कम है तब प्रत्येक मनुष्य को दूध खरीदते समय दूसरे मनुष्य का ध्यान रखना चाहीए। परंतु परिग्रहधंग दुगने पैसे देकर जरूरत से अधिक पांच, दस गुना दूध खरीदे और उसकी मलाई या रबड़ी बनाकर खावे। उस परिस्थिति में दूसरे मनुष्य तथा उनके बच्चों को दूध-चाय के बिना रहना पड़ेगा तथा फल और वस्त्र के बिना मनुष्य स्वयं की जरूरत के लिए चोरी, बदमाशी करेंगे तथा धनवानों के कट्टर वैरी बनेंगे। ऐसी परिस्थिति में भगवान महावीर का समतावाद कहां रहने पायेगा? समतावाद का मूल मजाक करके हम ही विषमतावाद को उत्पन्न कर जगत को चोरी, बदमाश

के रास्ते पर चढ़ानेवाले बनेंगे। बाद में स्वामी वात्सल्य और नोकारशी का भाव भी हवा खाता ही रहेगा।

यह अच्छी तरह याद रखना चाहिए कि आज के भारत में श्रीमंत तथा उनके पुत्र पुत्री मर्यादारहित दूध, मलाई, मिठाई और फल फूल को खाते हुए भी बीमार रहते हैं। जबकि गरीब मनुष्य साधन के अभाव में समय पर दूध, फल, साग भाजी, रोटी, वस्त्र, दवा आदि नहीं मिलने के कारण बीमार रहते है और बेमौत मरते हैं। ये सभी अनिष्ट सर्वथा अनिष्ट मूलक तत्वों को देखने के बाद दया के सागर भगवान महावीर स्वामी ने परिग्रह के नियंत्रण पर जोर डालते हुए कहा कि हे मानव ! हे श्रीमंत! हे भाग्यशाली ! तुझे यदि सुखी बनना हो और तेरे बाल बच्चों को भी सुखी, शांत और सदाचारी बनाना हो तो रोज के काम आनेवाले पदार्थ पर परिग्रह की मर्यादा करना। तभी तू सच्चा सुखी बन सकेगा और संसार को सदाचारी बनाने का उपकार तू कर सकेगा।

मानव मात्र का स्वभाव परिग्रह को बढ़ाने का होने से वनस्पती के अनंत उपकार को भूलकर भी वनस्पति का नाश करेगा और दूसरे हजारों मनुष्यों को भूखे मारने का मौका खड़ा करेगा और ऐसा करने से स्वयं की जात को दुःखी महादुःखी रोगी—महारोगी बनायेगा। संसार के साथ वैर विरोध बढ़ाकर संसार को भी दरिद्र बनायेगा क्योंकि परिग्रह स्वतः महापाप है।

सिर्फ हीरा, मोती, माणक, सोना, चांदी तथा पीतल के बर्तनो की मर्यादा करने से कोई भी मनुष्य अपरिग्रही नहीं बन सकता। कुत्ते को रोटी तथा कबुतर को अनाज डालने से भी दयालु नहीं बन सकता। परन्तु जीवन के अणु—२ में जीवमात्र के प्रति दयावृत्ति लाने के लिए प्रत्येक क्षेत्र में परिग्रह—परिमाण व्रत की आवश्यकता है। तभी यह मनुष्य स्वयं के पड़ोसी, गांव तथा देश का मित्र बन सकेगा।

परिग्रह की मर्यादा करने से प्राप्त हुआ दया धर्म ही मनुष्य को सही अर्थ में मनुष्य बनाकर मनुष्य के शरीर में ही सच्चा देवत्व प्राप्त करानेवाला बनेगा। अतः सभी जीवों को सुखी महासुखी बनाने के लिए भगवान महावीर स्वामी ने 'परिग्रह–परिमाण' व्रत की प्ररूपणा करके जगदुद्धारक का यश प्राप्त किया है।

जो भाग्यशाली इस व्रत का पालन करेगा उनका दयाधर्म भी विकसित होते किसी भी प्रकार का परिग्रह बढ़ाने का उसका उत्साह नहीं रहेगा फिर चाहे पहनने के कपड़े, खाने की वस्तु या फल हो तो भी खरीदते समय उसकी आत्मा कहेगी कि बेचने आये हुए पदार्थ को जैसा मैं भोग सकता हूँ वैसे ही दूसरे मनुष्य भी भोग करने के हकदार हैं। इससे मेरी आवश्यकतानुसार ही खरीदना है पर संग्रह करके पेटीयाँ नहीं भरना है इस प्रकार कपड़े तथा अनाज की खरीदी में भी परिग्रह ऊपर नियंत्रण करने की भावना होते ही मनुष्य में सच्चा दया धर्म तथा मैत्री भाव प्रकट होगा। मानव मात्र को आर्त ध्यानरहित जीवन बनाने के लिए परिग्रह नियंत्रण के सिवाय दूसरा कोई धर्म नहीं है।

एक ही झाड़ में संख्यात असंख्यात जीवों की विद्यमानता होने से तथा हजारों वृक्षों को काटने के बाद उत्पादित कोयले का व्यापार तथा उसके द्वारा लाखों, करोड़ों की कमाई वो महावीर स्वामी का अनन्य उपासक (दयाधर्म का जिसको स्पर्श हुआ होगा) कर सके ऐसा नहीं है, क्योंकि अंगार कर्म, वनकर्म, और दवदाह कर्म अत्यन्त निन्दनीय पाप है। ऐसे पापस्थानक का सेवन करनेवाले मालिक के हृदय में महावीर स्वामी का दयाधर्म स्थायी नहीं बन सकता है। अतः दया के सागर भगवान महावीर स्वामी ने ऐसे पाप कर्मों को त्याज्य–सर्वथा त्याज्य कहा है।

कारण बताते हुए कहा है कि अनंतानंत जीवों की हत्या द्वारा मिला हुआ रुपया बंगला–हीरा–मोती के आभूषण मोटर भी अन्तिम समय

आयुष्यकर्म का अन्तिम प्रदेश पूर्ण किये बिना कोई भी जीव शरीर से मुक्त होता नहीं है उस स्थिति में शरीर के दो तीन टुकड़े हो जाने पर भी आत्मा के प्रदेश उतने आकाश में रहेंगे ही।

आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं। वे आत्मा से किसी भी काल में अलग होते नहीं हैं। जबतक जीव शरीर में रहेगा तबतक शरीर के बिखरे हुए टुकड़ों में भी और अंतराल में भी आत्मा के प्रदेश विद्यमान रहते हैं ऐसा जैनागम मानता है। अब आत्मप्रदेश से युक्त उन टुकड़ों को कोई मनुष्य अंगुली या सलाई से हिलाते हैं तो भी उन प्रदेशों को कोई नुकसान होता नहीं है। क्योंकि प्रदेशों को काटना, जलाना, तोड़ना आदि कार्य संभवित नहीं हैं। आचारांग सूत्र में भी कहा है कि 'नछिद्यन्ते न भिद्यन्ते, न दह्यन्ते, न हन्यन्ते' अर्थात् आत्मा के प्रदेश छेदाते नहीं, भेदाते नहीं किसी से मराते भी नहीं इसीलिए आत्मा को अछेद्य कहा है।

पृथ्वी आठ कही है वह इस तरह है–रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुका प्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमः प्रभा, तमस्तमप्रभा और आठवीं पृथ्वी इषत् प्राग्भारा (सिद्धशिला)।

हे प्रभु! रत्नप्रभा पृथ्वी चरम है या अचरम? चरमा अर्थात् प्रान्त वर्तिनी।

अचरमा अर्थात् मध्यवर्तिनी।

शब्द सापेक्ष होने से किसी अपेक्षा से चरम और किसी अपेक्षा से अचरम हो सकती है। भगवान ने कहा कि रत्नप्रभा पृथ्वी चरमा (प्रान्तवर्तिनी) नहीं है। क्योंकि रत्नप्रभा पृथ्वी में यदि दूसरी पृथ्वी हो तो उसमें चरमा का व्यवहार हो सकता है पर ऐसे नहीं होने से चरमा नहीं है वैसे ही रत्नप्रभा पृथ्वी के बाहर की तरफ दूसरी पृथ्वी हो तो उस अपेक्षा से अचरमा (मध्यवर्तिनी) कह सकते हैं। पर ऐसे नहीं होने से अचरमा और चरमता जब; एक वचन में संभव नहीं तो

बहुवचन में भी संभव नहीं हैं। इस प्रकार चरमा या अचरमा प्रदेशवाली भी नहीं है तब उसमें असंख्यात प्रदेशों की अवगाढ़ता को कल्पे तो प्रदेशों की अपेक्षा से चरमान्त प्रदेशवाली और अचरमान्त प्रदेशवाली भी कह सकते हैं।

॥ चौथा उद्देशक समाप्त ॥

शतक आठवां उद्देशक ५

क्रियाओं का अल्प बहुत्व :

राजगृही नगर में गौतमस्वामी के पूछने से भगवान ने कहा कि-हे गौतम ! क्रिया पांच प्रकार की है (१) कायिकी, (२) अधिकरणिकी, (३) प्राद्वेषिकी (४) पारितापनिकी, (५) प्राणातिपातिकी।

इन पांचों क्रियाओं का वर्णन विस्तार से पहले भाग में आ चुका है।

अतः उनका मानसिक, कायिक और वाचिक व्यापार भी आरंभसमारंभवाला होने से भगवान ने प्रमत्त संयमी को इस क्रिया का मालिक कहा है।

माया प्रत्ययिकी क्रिया के स्वामी ऊपर के चार तथा अप्रमत्त संयमी, यदि कषायवंत है तो इस क्रिया के मालिक हैं। इनसे विशेष वर्णन जानने के लिए प्रज्ञापनासूत्र का २२ वां पद देखिए।

मिथ्यादर्शनी जीव करते अविरत सम्यग्दृष्टि जीव हजार बार उत्तम है उस करते देशविरतिधर उत्तम है, उनसे प्रमादी होनेपर भी सर्वविरती धर उत्तम है और कषायी होनेपर भी अप्रमत्त अधिक श्रेष्ठ है।

अतः संसार की माया को गौण करके मिथ्यात्व तथा उसके भाव को दूर करने की भावना रखनी चाहिए।

मिले हुए सम्यक्त्व को शुद्ध करना, विरतिधर बनने की भावना रखना और अन्त में वृद्धावस्था प्राप्त आनेपर भावदीक्षा लेने का उत्साह रखना।

द्रव्य-दीक्षा न ले सके तब तक रोज रोज खाने पिने, ओढ़ने पहिनने आदि में अच्छी से अच्छी मनपसंद वस्तु का त्याग करना चाहिए।

॥ पांचवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक आठवां उद्देशक ६

मंखलीपुत्र गोशाला निर्धन था, वास्तव में उसका नाम गोशाल था। परन्तु गायों के बाड़े में जन्म लेने के कारण सभी उसे गोशाला नाम से ही बुलाते थे। एक दिन किसी श्रीमंत के यहाँ दीर्घ तपस्वी महावीर स्वामी को पारणा करते देख उसके मन में हुआ कि इस तपस्वी का यदि मैं शिष्य बनूं तो मुझे भी खूब खाने को मिलेगा। उस आशय से स्वयं ही साधु के कपड़े पहन लिए तथा भगवान के शिष्य के रूप में कभी उनके साथ तथा कभी अलग विचरने लगा। परन्तु आंतरिक जीवन का गूढ़ द्वेषी, मायी मृषावादी प्रपंची और केवल आहार संज्ञा का गुलाम होने से, बाह्यदृष्टि से भगवान के साथ रहनेपर भी लगभग भगवान का शत्रु बनकर ही रहता था। ज्योतिषविद्या का गोशाला थोड़ा बहुत सीखा। कुछ जाना तथा भगवान के पास से तेजोलेश्या की प्राप्ति होने के बाद तो वह मन वचन काया से भगवान का कट्टर दुश्मन बन चुका था। भगवान महावीरस्वामी के पूर्वभव के कर्म बहुत ही विचित्र होंगे, जिससे साधु सेवा के लिए इन्द्र महाराजा ने नियुक्त किये सिद्धार्थ देव और दूसरा गोशाला इन दोनों के उपद्रव से महावीरस्वामी को बहुत अधिक कष्ट सहन करने पड़े हैं। इसलिए पुरुष महापुरुष बनते में तपश्चर्या बहुत ही बलवान है।

तेजोलेश्या प्राप्त होने के बाद तो अत्यन्त गर्विष्ठ बना हुआ गोशाला स्वयं ही अपने को तीर्थंकर [illegible] हो गया। वाचालता तथा कुछ [illegible] होने से बहुत अधिक संख्या में [illegible] का संघ स्थापित कर दिया

और समय समय पर गोशाला के भक्त चलते रास्ते महावीर के शिष्य से भेट होती तब कुछ न कुछ चर्चा भी कर लेते थे। परन्तु कड़वे तुम्बे के बीज में से अमृत फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है। वैसे ही गोशाला दिन प्रतिदिन निर्ध्वंस परिणामवाला बनता गया।

अनुभवी भी कहते हैं कि-"स्वयं कुपात्र हो और साथ में थोड़ा पुण्य और विद्या मिल जाय तो वह व्यक्ति स्वयं के लिए, कुटुम्ब, समाज तथा देश के लिए भी काले नाग से भी अधिक खतरनाक बनता है।" गोशाला की भी यदि दशा थी।

इस उद्देशक में उसके भक्तों की भगवान के शिष्यों के साथ जो चर्चा हुई है उसके निर्णय के लिए गौतमस्वामी ने भगवान से पूछा है, जिसका सार यह है—

भगवान महावीर स्वामी के श्रमणोपासक, श्रावक, शिक्षाव्रत, अणुव्रत, तथा गुणव्रत को स्वीकारने से सावद्यत्यागी और प्रत्याख्यानी हैं। ऐसे परिस्थिति में जब वे दो घड़ी का सामायिक करने बैठते हैं। तब सामायिक लेने के पहले स्वकीय वस्त्र, आभूषण आदि पदार्थ उतारकर त्याग करते हैं। अब उन वस्त्रों तथा आभूषणों को यदि कोई दूसरा मनुष्य चोरकर ले जाय तो फिर सामायिकव्रतधारी स्वयं की सामायिक समाप्त होने के बाद स्वयं के त्याग किये हुए वस्त्रादि का शोध करता है तब वह श्रावक स्वयं के वस्त्र का शोध करता है ? या दूसरों के वस्त्र का ? क्योंकि सामायिक लेने के पहले उस श्रावक ने सभी वस्तु का त्याग कर देने से वे पदार्थ उसके नहीं रहते और जो पदार्थ उसके नहीं है वे दूसरे के कहलाते हैं।

इस बात को गौतमस्वामी पूछते हैं कि-हे प्रभु ! यह श्रावक स्वयं की वस्तु शोधता है या दूसरे की ?

भगवान ने कहा कि हे गौतम ! सामायिक समाप्त होने के बाद वह श्रावक उतारे हुए वस्त्रादि जो स्वयं के ही है उनको शोधता है क्योंकि

वह स्वयं के ही वस्त्र शोधता है। दूसरे के नहीं। सामायिक लेनेवाला भाग्यशाली यद्यपि उस समय ऐसी कल्पना जरूर करता है कि चांदी, सोना, मकान मेरा नहीं है। आभूषण वस्त्र भी मेरे नहीं है। यहांतक की संसार कोई वस्तु मेरी नहीं हैं। इसप्रकार स्वयं की सभी वस्तुओं का त्याग करने पर भी हे गौतम! वह श्रावक अपने पदार्थों के प्रति मूर्च्छा (ममत्व) को छोड़ सकने में समर्थ नहीं बन सकता है। अतः हे आयुष्यमान् गौतम! "परिग्रह" अर्थात् पदार्थ का समूह यही सच्चा परिग्रह नहीं है परन्तु मेरे शासन में "मुच्छा परिग्गहो वुत्तो" अर्थात् पदार्थ मात्र के प्रति रही हुई मूर्च्छा, ममता, अपनापन ऐसे हृदय के भाव ही परिग्रह है। इतना त्याग गृहस्थाश्रम में रहा हुआ गृहस्थ कर नहीं सकता है। अतः श्रावक के व्रत—नियम पच्चक्खाण चाहे जितने अच्छे हो तो भी उसको ममता तो रहती ही है और ममता यही परिग्रह है। इसी कारण से सामायिक पारकर उठनेवाला गृहस्थ स्वयं के वस्त्र को ही शोधता है।

सामायिक लेने से पहले यद्यपि उसने वस्त्रों का त्याग किया था तो भी मूर्च्छा का त्याग नहीं होने से सामायिक पारने के बाद भी वे पदार्थ उसी के रहते हैं दूसरे के नहीं।

इसी तरह सामायिक लेकर बैठे हुए गृहस्थ की स्त्री को यदि दूसरा मनुष्य भोग ले तो वह अनाचारी मनुष्य श्रावक की स्त्री के साथ अनाचार करता है या दूसरे की स्त्री के साथ?

जवाब में भगवान ने कहा कि—वह अनाचारी मनुष्य सामायिक लेकर बैठे हुए श्रावक की स्त्री के साथ ही अनाचार करता है दूसरी के साथ नहीं क्योंकि सामायिक लेकर बैठे हुए श्रावक को यद्यपि यह भाव अवश्य होता है कि मेरे पिता, मां, स्त्री, परिवार कुछ नहीं है पर इतना होनेपर भी गौतम! सामायिकवाले श्रावक ने सब छोड़ दिया है परन्तु सगा संबंधी के साथ स्नेह की माया होने से वह स्त्री उसी की रहती है दूसरे की नहीं।

अतः स्नेहपाश ही बड़े से बड़ा पाश है। श्रावक धर्म में रहते श्रावक के लिए अनुमति का त्याग अत्यन्त दुष्कर है। क्योंकि गृहस्थाश्रम का भार उसी पर है। "दुविहं तिविहेणं" का अर्थ है कि मन–वचन–काया से मैं करूंगा नहीं और कराऊंगा नहीं। इसमें अनुमोदने का त्याग नहीं है।

प्राणातिपातादि की विरती :

संख्यात असंख्यात भवों की परम्परा से बहुत ही मजबूत और चिकनी की हुई कषायों की वृत्ति (मानसिक व्यापार) तथा प्रवृत्ति (कायिक व्यापार) को लेकर जीव को सम्यग्दर्शन (आत्मदर्शन) नहीं होता है।

मंदिर का द्वार बन्द हो तो जबतक वह द्वार नहीं खुले तब तक कोई भी मनुष्य गभारा में (मंदिर का मूल भाग) विद्यमान होनेपर भी भगवान के दर्शन कर सकने में समर्थ नहीं बन सकता है। दर्शक और दृश्य की विद्यमानता होनेपर भी द्वार अंतराय भूत बनता है। इसी प्रकार पंच-भूतात्मक शरीर में चैतन्य स्वरूपी ज्ञान, दर्शन चारित्र का मालिक, सच्चिदानंदरूप आत्मा विद्यमान होनेपर भी कषायों के अत्यन्त मजबूत बने हुए द्वारों से सर्वथा बन्द होने से अपने स्वयं का दर्शन किसी भी जीवात्मा को नहीं हो सकता है।

अमगान का मालिक जैसे स्वयं के रोग की औषधी को लेने के लिए जहां चाहे जाता आता है तो भी सम्यग् निदान तथा औषधी प्राप्त नहीं कर सकता है। वैसे ही अज्ञानावृत बन जीव भी 'दखिण दखिण करतो फिरे, तो रण शेत्र समान'…………………"इस स्थान पर आत्मदर्शन होगा, वहां होगा इस तरह पूरे ब्रह्मांड के प्रत्येक स्थान, प्रत्येक व्यापार में आत्म दर्शन को लेने के लिए दौड़ चुका है। परन्तु कहीं भी आत्मदर्शन या सम्यग्-दर्शन को पाने के लिए समर्थ नहीं हो सका और संसार का परिभ्रमण भी नहीं मिटा सका।

इसका सबल तथा मौलिक-कारण बताते हुए जैन शासन ने कहा है कि अनंत भव की माया को लेकर आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनंतानुबंधी-कषायों की जो अगाढ़ छाया पड़ी है उस कारण से लगभग बिल्कुल असमर्थ बनी हुई आत्मा स्वयं की आत्मीयता का दर्शन प्राप्त नहीं कर सकती है। संसार का बड़ा अधिकांश मानव समूह ही हमारे सामने प्रत्यक्ष है।

(१) कितने ही जीव मनुष्य अवतार प्राप्त करके भी बाल्यकाल से ही जीवन के अंत तक शराबपान, जीववध, मारकाट, झूठ, प्रपंच तथा अनेक स्त्रियों के साथ भोगकर्म में जीवन पूरा कर रहे हैं।

(२) सत्य जाति में जन्मा हुआ तथा पढ़ा हुआ होनेपर भी साधारण अवस्थाओं में तथा अव्यवस्थाओं में जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

ऐसे जीवात्मा को एक सेकण्ड के लिए मैं कौन हूँ? मनुष्य अवतार कैसे लिया है? मरकर मेरा क्या होगा? उच्च खानदान में जन्मा होनेपर भी मेरे विचार इतने गंदे क्यों हैं? धर्मपत्नी है तो भी मैं दुराचारी क्यों बना? इत्यादि विचार भी उनको आते नहीं है।

इस तरह अनंतानुबंधी कषायरूपी मोहकर्म के तीव्र नशे में बेभान बनकर ऐसे जीवों का अधिकांश समय पाप में, पापकार्य में और पाप विचारों में ही पूरा होता है। जिस से स्वयं की आत्मा के लिए विचार भी करने का समय नहीं रहता।

जब भवांतर में संसार की [illegible], सद्गुरु तथा परमात्मा के वचनों की [illegible] के बाद आत्मा का प्रबल पुरुषार्थ जाग उठता है तब अपनी आत्मिक शक्ति के द्वारा यह अनंतानुबंधी कषाय की [illegible] को [illegible] अंश में [illegible] है। उस समय [illegible] के द्वारा [illegible] की परमात्मा के दर्शन होते हैं। वैसे ही आत्मा में भी [illegible] का [illegible], [illegible] तथा [illegible], [illegible] संसार के प्रति उद्वेग, [illegible] विषय के प्रति निर्वेद (वैराग्य) [illegible] प्रति अनुकंपा, तथा

जीवादि तत्वों में श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा आत्मा सम्यग्दर्शन की मालिक बनती है। स्वयं के अभूतपूर्व पुरुषार्थ द्वारा अनेक कनिष्ट कर्म की माया के मूल को कमजोर करता है या उखाड़ फेंकता है। इससे कषायों का जोर करीब करीब बहुत ही कमजोर बन जाता है। इतना होनेपर भी अनादिकाल के अनंत भवों में उपार्जित कर्म, सम्यग्दर्शन होनेपर भी कोडाकोडी सागरोपम जितने शेष रहते हैं।

यद्यपि साधारण जीव के लिए सर्वथा अजेय अनंतानुबंधी कषाय किसी समय दब जाता है। तो भी उसका छोटा भाई जैसा अप्रत्याख्यानी कषाय का जोर विद्यमान होने से दूसरे कोई व्यक्ति या पुद्गलिक पदार्थ के प्रति हुआ क्रोध—मान—माया—लोभ एक वर्ष तक मिट नहीं सकता है। जबकि सम्यग्दर्शन प्राप्त हुई आत्मा को यद्यपि वीतराग परमात्मा का पूजन भजन, कीर्तन, दया, दान, आदि सत्कार्य करने को अच्छा लगता है और स्वयं की श्रद्धा के अनुसार करता भी है तो भी स्वयं की आत्मा को नये आनेवाले पाप मार्ग से दूर करने में समर्थ बन सकता नहीं है।

परन्तु गुरु भगवंत के मुख से व्याख्यान सुनते तथा सदनुष्ठान (पौषध, प्रतिक्रमण, सामायिक, व्रत पच्चक्खाण) को करते उसकी आत्मा शुद्ध मार्ग पर चढ़ती है और पवित्र अनुष्ठान में जैसे जैसे एकाग्रता बढ़ती है वैसे वैसे उसकी आत्मा पर शेष रहे कोडाकोडी कर्म में से पल्योपम के पल्योपम जितने स्थितिवाले कर्म भी धीरे धीरे हटने लगते हैं और वह भाग्यशाली दूसरे अप्रत्याख्यानी नाम के कषाय को मारकर के कमजोर कर डालता है।

जैसे "जिसको पिपासा हो अमृतपान की किम भांगे विषपान" उसके रोम रोम में बस गया होता है।

जिसको वीतरागता प्राप्त करने की तीव्र भावना हो तो वह भाग्यशाली किसी पल भी विषपान जैसे कषाय का सेवन करेगा नहीं, दूसरे से करायेगा नहीं और जहां कषाय रहेंगे वहां से दूर रहेगा।

इसतरह स्वयं की आत्मा को पाप में से पापभावना तथा पाप संस्कारों में से निवृत्त करके अप्रत्याख्यान कषाय को सर्वथा या देश से दबा देगा। तब उन भावनाओं को भिन्न भिन्न निरर्थक पाप को और पापी पेट के लिए करते हुए पाप को भी त्यागने की भावना होने से देश विरति धर्म अर्थात् स्थूलरूप से हिंसादि पाप का त्याग करेगा। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र द्वारा सनाथ बनी हुई आत्मा स्वयं की परिस्थिति के प्रमाण से स्थूलतया पापों को नीचे लिखे प्रमाण से त्याग करेगा वह इस प्रकार है:—

(१) मन, वचन और काया से करता नहीं, कराता नहीं और अनुमोदता नहीं।

(२) मन, वचन से करता नहीं, कराता नहीं और अनुमोदता नहीं।
(३) मन, काया से करता नहीं, कराता नहीं और अनुमोदता नहीं।
(४) वचन तथा काया से करता, कराता और अनुमोदता नहीं।
(५) केवल मन द्वारा करता, कराता और अनुमोदता नहीं।
(६) केवल वचन द्वारा करता, कराता और अनुमोदता नहीं।
(७) केवल काया द्वारा करता, कराता और अनुमोदता नहीं।
(८) मन, वचन, काया द्वारा करता, कराता नहीं।
(९) मन, वचन, काया द्वारा करता नहीं, अनुमोदता नहीं।
(१०) मन, वचन, काया द्वारा कराता तथा अनुमोदता नहीं।
(११) मन, वचन से करता, कराता नहीं।

(१२) मन, काया से करता तथा कराता नहीं।

(१३) वचन और काया से करता, कराता नहीं।

(१४) मन, वचन से करता तथा अनुमोदता नहीं।

(१५) मन, काया से करता और अनुमोदता नहीं।

(१६) वचन और काया से करता तथा अनुमोदता नहीं।

(१७) मन, वचन से करता तथा अनुमोदता नहीं।
(१८) मन, शरीर से करता तथा अनुमोदता नहीं।
(१९) वचन तथा काया से करता, अनुमोदता नहीं।
(२०) सिर्फ मन द्वारा कराता, नहीं।
(२१) वचन द्वारा कराता, कराता नहीं।
(२२) शरीर द्वारा कराता, कराता नहीं।
(२३) मन द्वारा कराता, अनुमोदता नहीं।
(२४) वचन द्वारा कराता, अनुमोदता नहीं।
(२५) शरीर द्वारा करता, तथा अनुमोदता नहीं
(२६) मन द्वारा करता, अनुमोदता नहीं।
(२७) वचन द्वारा करता, अनुमोदता नहीं।
(२८) शरीर द्वारा करता, अनुमोदता नहीं।
(२९) मन, वचन, काया से कराता नहीं।
(३०) मन, वचन, काया से कराता नहीं।
(३१) मन, वचन, काया से अनुमोदता नहीं
(३२) मन, वचन, काया से करता नहीं।
(३३) मन, शरीर से करता नहीं।
(३४) वचन, काया से करता नहीं।
(३५) मन, वचन से कराता नहीं।
(३६) मन, वचन से कराता नहीं।
(३७) वचन, काया से कराता नहीं।
(३८) मन, वचन से अनुमोदता नहीं।
(३९) मन, काया से अनुमोदता नहीं।
(४०) वचन, काया से अनुमोदता नहीं।
(४१) मन से करता नहीं।

(४२) वचन से करता नहीं।
(४३) शरीर से करता नहीं।
(४४) मन से कराता नहीं।
(४५) वचन से कराता नहीं।
(४६) शरीर से कराता नहीं।
(४७) मन से अनुमोदता नहीं।
(४८) वचन से अनुमोदता नहीं।
(४९) शरीर से अनुमोदता नहीं।
उपरोक्त अनुसार स्थूल प्राणातिपात विरमण के ४९ भांगे होते हैं।

जीवमात्र की परिणति और परिस्थिति कर्म के कारण से सर्वथा अलग-२ होती है। इसी कारण से ही प्राणातिपात (हिंसा) के त्याग में प्रत्येक जीव अपनी-२ मर्यादा में रहकर हिंसा का त्याग करते हैं। जैसे-२ आत्मबल बढ़ता जाता है वैसे-२ मन, वचन, काया से करना, कराना और अनुमोदना को भी त्याग देता है।

पापकर्म जैसे अनंतानंत हैं वैसे ही उसके अध्यवसाय भी अनंत हैं अतः मोहमाया के वश में बना हुआ जीव अनादिकाल से प्राणातिपात के किसी भी भांगे को समझदारीपूर्वक स्पर्श नहीं कर सका।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होते ही जीवात्मा पाप के अध्यवसाय पर कंट्रोल करने में समर्थ बनता है और जितने अंश में समर्थता आती है उतने अंश में प्राणातिपात विरमण करता एक दिन ऐसा भी आ जाता है। उस समय जीव हिंसा को स्वयं मन, वचन, काया से करता नहीं, कराता नहीं और दूसरे हिंसक मनुष्य के पापकार्यों का अनुमोदन भी नहीं करता है। विरति का स्पर्श जैसे बढ़ता जाता है। उस समय भूतकाल में हुई हिंसा की भी निंदा करता है। वर्तमानकाल में प्राणातिपात न हो उसके लिए आत्मा में जबरदस्त जागृति लाता है।

इस प्रकार तीनों काल में-४९-४९-४९-१४७ भांगे हैं।

इस तरह मृषावाद विरमण, अदत्तादान विरमण, मैथुनविरमण और परिग्रह विरमण के लिए उपरोक्त भांगे समझना।

जबतक जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त न हो तब तक उसके जीवन में पापों की निवृत्ति नहीं होती है और उसके सद्‌भाव में भी विरति का संभव तत्काल होता नहीं है। पर जैसे-२ सम्यग्ज्ञान होता जाता है वैसे-२ पाप की विरति सुलभ बनती है।

अतः भाग्यशाली को गृहस्थाश्रम में रहकर भी जो पाप सर्वथा निरर्थक हो उसका त्याग सबसे पहले होने चाहिए उसके बाद जैसे-२ पापभीरुता बढ़ती जाय वैसे-२ पापी पेट के लिए करते हुए पाप को भी त्यागकर सही अर्थ में श्रमणोपासक बने।

सारांश यह कि इस प्रकार के भाग्यशाली जैनमतानुयायी श्रमणोपासक ही होते हैं। दूसरे अर्थात् गोशाला के भक्त नहीं। क्योंकि यथार्थज्ञान के बिना किसी को भी पाप की विरति नहीं होती है।

आजीविक के सिद्धांतो की वक्तव्यता :

आजीविक अर्थात् गोशाला के भक्त यह मानते हैं कि "संसार के जीव अप्रासुक सचित्ताहारी हैं। जिससे वे हननलायक प्राणियों को लकड़ी द्वारा मारकर तलवार या छुरी से छेदकर, शूल आदि से भेदकर पांख आदि उखेड़कर और शरीर की चमड़ी वगैरह उतारकर इस प्रकार का आहार कर सकते हैं।

संसार के सभी जीव जब इस तरह जी रहे हैं तब गोशाला मत के बारह प्रकार के उपासक गृहस्थ जैसे ताल तालप्रलंब, उद्विध, संविध, अवविध, उदय, नामोदय, कर्मोदय, अनुपालक, शंखपाल, अयंपुल और कातर आदि गोशाला को ही अर्हंत (अरिहंत-जिन आदि) मानते हैं। यह माता-पिता की सेवा करनेवाले होते हैं। पांच प्रकार के उदुंबर के फल को

फल, बड़ के फल और, पिपल का फल, आदि पदार्थ स्वयं के सिद्धांत वर्जित होने से खाते नहीं है। प्याज, लहसुन, कंद मूरण मूला आदि वस्तु का भी उपयोग नहीं करते। जिस बैल द्वारा व्यापार करते है उसकी खसी भी नहीं करते, नाक छेदते नहीं और त्रस जीवों की हत्या हो वैसे अनाज का भी व्यापार नहीं करते। उपरोक्त वक्तव्य को ध्यान में रखकर भगवती सूत्रकार कहते हैं कि गोशाला के उपासक भी उपर्युक्त भोजन लेते नहीं तो फिर जिन भाग्यशाली के रोम-२ में महावीरस्वामी का वास हो श्वासोश्वास में जैनशासन की रट हो, अहिंसा के प्रति अटूट श्रद्धा हो और भवांतर की भ्रमणा से वैराग्य हुआ हो, जीव अजीव आदि तत्व के ज्ञाता, पुण्य पाप के फल को जाननेवाले आश्रव बंध को हेय समझनेवाले तथा संवर और निर्जरा को उपादेय समझनेवाले महावीरस्वामी के श्रमणोपासकों को तो संसारवर्धक क्रियाएं छोड़ देनी चाहिए। धीरे-२ छोड़ने की ट्रेनिंग लेनी चाहिए। इसलिए जैनशासन ने १५ प्रकार के कर्मादान को त्याज्य कहा है।

जिसमें भयंकर हिंसा हो द्वीइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय आदि अनेक जीवों का हनन। हो ऐसे व्यापार को कर्मादान कहा है—

"कर्माणि आदीयते संगृह्यन्ते इति कर्मादानम्"

ये कर्मादान इस वंदितुसूत्र की गाथा से जानते हैं—

"इंगालिवणसाडी भाड़ी, फोडी सुवज्जए कम्मं।
वाणिज्जं चेव दंत लक्ख, रस, केस, विस, विसयं ॥२२॥

एवं खु जंतपिल्लण, कम्मं निल्लंछणं च दवदाणं।
सरदह तलाय सोसं असई पोसं च वज्जिज्जा ॥२३॥

अंगारकर्म, भड़भूंजा, सोनी, लुहार, कुम्हार आदि की भट्टी और कोयले आदि पकाने।

वनकर्म—जंगल, साग, पान, लकड़ी काटनी तथा कटवानी।

शकटकर्म—गाड़ी, गाड़ा आदि वाहन और उनके अंगों का व्यापार करना।

भाटीकर्म—घोड़ागाड़ी, बैल आदि को किरायेपर देना।

स्फोटकर्म—खेती, कुआ, बोरिंग आदि।

दंतवाणिज्य—चमड़ी, जीवित जानवरों की चमड़ी, सिगड़ा, हाथी-दांत, कस्तूरी, बाल, पींछ आदि का व्यापार।

रसवाणिज्य—मद्य, मांस, शराब, मक्खन आदि का व्यापार।

विष वाणिज्य—अफीम, सोमल, खटमल मारने की दवा जहर के इंजेक्शन, पावडर आदि का व्यापार।

केशवाणिज्य—मोर, तोते आदि के बाल का व्यापार।

लाख वाणिज्य—लाख आदि का व्यापार।

यंत्रपीलन कर्म—कपड़े की मील, कपास का जीन, अनाज पीसने की चक्की आदि मशीनों का व्यापार।

निर्लांछन कर्म—किसी के अंगोपांग को छेदने, डाम देना आदि।

दवदाह कर्म—जंगल, मकान आदि में आग लगाना।

शोषणकर्म—तालाब आदि के पानी को सुखाने का ठेका आदि लेना।

असतीपोषण—कसाईमार, कसाई, चोर, जुआरी, वेश्या आदि का पोषण हो ऐसा व्यापार करना।

इत्यादि कर्मादान श्रावक को त्यागने योग्य है।

॥ छठा उद्देशक समाप्त ॥

———

शतक आठवां उद्देशक ७

मुनिराज के वैयावच्चके फलसंबंधी प्रश्नोत्तर :

पंचमहाव्रतधारी मुनिराज के चरण सान्निध्य में रहकर दर्शन, ज्ञान, चारित्रपूर्वक श्रावकधर्म की आराधना करनेवाले गृहस्थ को श्रमणोपासक कहते हैं। जो चतुर्विध संघ में तीसरे नम्बर में हैं। स्वयं की शक्ति और परिस्थिति अनुसार पूरे चतुर्विध संघ के योगक्षेम के लिए जवाबदार बनकर बाल, ग्लान, वृद्ध, आचार्य, उपाध्याय आदि मुनिराज और साध्वीजी की वैयावच्च में ही स्वयं का धर्म मानते हैं जो उत्कृष्टतम धर्म है।

अहिंसा, संयम और तपोधर्म की पूर्ण आराधना करनेवाले मुनिराज हमेशा के लिए सेव्य, पूज्य, आराध्य, वंदनीय और नमनीय है। जबकि श्रमणोपासक श्रावक हमेशा के लिए मुनिराज का सेवक, पूजक, आराधक होने से उनको भावपूर्वक वंदन तथा नमस्कार करनेवाला ही रहता है। इस कारण से सात्विक शिरोमणि श्रमणोपासक मन, वचन और काया की पूर्णशक्ति लगाकर मुनिराज की वैयावच्च करते हैं।

देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी को गौतमस्वामी पूछते हैं कि हे प्रभु –

प्रश्न १—इस प्रकार के मुनिराज को प्रासुक तथा एषणीय अशनपान, खादिम और स्वादिम पदार्थो से प्रतिलाभे तो वैयावच्च करनेवाले श्रावक को क्या फल मिलता है?

प्रश्न २—ऐसे ही मुनिराज को यदि श्रमणोपासक अप्रासुक तथा अनेषणीय आहार, पानी देवे तो दाता को क्या फल मिलेगा ?

प्रश्न ३—असंयत, अविरति और अप्रत्याख्यान साधु को प्रासुक या अप्रासुक, एषणीय या अनेषणीय आहारपानी देनेवाले दाता को क्या फल मिलेगा ?

ये तीनों प्रश्न श्रावक से संबंधित है ?

जवाब में भगवान ने कहा—कि हे गौतम !

उत्तर १—सत्ताईस गुण के धारक, पंचमहाव्रतधारी, पवित्र मुनिराज को प्रासुक (अचित) एषणीय (आधाकर्मादि दोषरहित) अशन, पेट भरने या भूख के रोटी, चावल आदि पदार्थ।

पान—जिससे प्यास मिटे वह पानी, छाछ, धोवन आदि पदार्थ।

खादिम—थोड़े अंश में जिससे भूख मिटे वैसे फल, मेवा आदि।

स्वादिम—स्वाद लेने लायक सुपारी, लौंग, इलायची, सोंठ आदि।

उपचार से वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण, औषध आदि द्रव्य द्वारा प्रतिलाभित करे तो वे श्रावक एकांत (जिसमें दूसरा विकल्प नहीं) कर्मों की निर्जरा करते हैं। तथा उस समय श्रावक को अहित करने किसी प्रकार का पाप नहीं लगता है।

उत्तर २—दूसरे प्रश्न के जवाब में भगवान ने कहा कि ग्लान बिमार बन, अंधकार में कमजोर, वृद्ध, बाल और ग्लान मुनिराज को अप्रासुक (अचित होनेपर भी अपचार आदि के कारण से दोषयुक्त) अनेषणीय (मेरा आदि से उतारा हुआ दोषयुक्त) आहारपानी देने श्रावक को बहुत अधिक कर्मों की निर्जरा होती है और पाप अल्प लगता है अर्थात् बीमारी आदि की अवस्था में मुनिराज की भक्ति करनेवाले श्रावक को कर्मों की निर्जरा अधिक तथा पाप बंधन कम होता है।

परम पवित्र मुनिराज की भक्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान और चारित्र की भक्ति है। जिससे श्रावक को एकांत लाभ है तथा महालाभ है। पाप बंधक की अपेक्षा निर्जरा अधिक होने से की हुई भक्ति श्रेष्ठ है।

विस्तार में पड़े हुए मुनिओं को जो किसी प्रकार अपना निर्वाह नहीं कर सकते हैं। उनको अनिवार्य संयोग में अप्रासुक और अनेषणीय आहारपानी देकर भी उनके आर्तध्यानरहित जीवन में भाग लेनेवाले श्रावक को अच्छा मानने में आया है। परन्तु जंघाबल से सशक्त होनेपर भी सिर्फ प्रमादवश पड़े हुए मुनिराज को अप्रासुक और अनेषणीय आहार का निषेध है।

दूसरे आचार्य यह कहते हैं कि–गुणवंत पात्र को अप्रासुकादि दान देनेवाले का परिणाम यदि शुद्ध है तो उनको महानिर्जरा है तथा पाप अल्प है। क्योंकि प्रत्येक क्रिया में आत्मा का परिणाम ही मुख्य है।

भावार्थ यह है कि अत्यन्त ग्लान तथा क्षुधावेदनीय सहन करने में असमर्थ मुनिराज के चारित्रपरिणाम स्थिर रहे, स्वयं की अन्तिम आराधना बराबर कर सके उनके लिए किसी भी प्रकार से की हुई भक्ति स्वीकार्य है।

बेशक जहां तक बन सके वहां तक शुद्धता का ख्याल रहे तथा मुनि को असंयम से बचा सके उसका गृहस्थ को उपयोग रखना चाहिए और जहां स्वयं की बुद्धि काम नहीं दे वहां आसपास विराजमान गीतार्थ की सलाह लेकर जिस समय जो योग्य हो वह करना चाहिए।

उत्तर ३–भगवान ने कहा—

असंजय—जो संयम बिना के इन्द्रियों के वेग को नहीं रोकनेवाले, मानसिक विचार में पापकर्म और चारों संज्ञा के अत्यधिक वेगवाले वे असंजय कहलाते हैं।

अविरत:—पापकर्म जिससे बंद नहीं है अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी

मैथुन और परिग्रह नाम के पांच बड़े पाप में जो सर्वथा आसक्त है तथा विषय वासना और क्रोधादि कषायों के द्वारा सर्वथा लुटे हैं वे अविरत कहलाते हैं।

अप्रतिहत प्रत्याख्यात पापकर्म—प्रत्याख्यान द्वारा जिसके पापकर्म प्रतिहत नहीं हुए अर्थात् खान-पान, कहनी-करनी, बोलचाल, व्यापार-व्यवहार में रहते हुए अठारह पाप में से एक भी पाप में प्रत्याख्यान कर नहीं सकते वे अप्रतिहत प्रत्याख्यात पापकर्मी कहलाते हैं।

ऊपर के तीन प्रकार के जीव को आहार पानी के दाता गृहस्थ को एकान्त पापकर्म का उपार्जन होता है। दिया हुआ आहार प्रासुक या अप्रासुक तथा एषणीय या अनेषणीय हो दाता को रंचमात्र भी निर्जरा नहीं होती है।

भगवान ने कारण बताते हुए कहा कि—दिया हुआ दान यह सामान्य की बात नहीं है, पर उपयुक्त पात्र को देने से असंयम की वृद्धि, पाप का पोषण और इन्द्रियों को उत्तेजन करनेवाला होने से दाता पापकर्म का उपार्जन करनेवाला होता है।

भाग्यशाली गृहस्थ को थोड़े या अधिक अंश में देशविरति चारित्रधर्म की प्राप्ति होने के बाद उनके सभी अनुष्ठान मोक्ष प्राप्ति के लिए होते हैं।

स्वयं के पापी पेट के लिए अनिवार्य रूप से कई पाप कर्म करने पड़ते हैं तो भी गृहस्थ दिन या रात को एक आसन पर बैठकर किये हुए पाप का मिच्छामि दुक्कडं देकर पाप को दूर करने की भावना से प्रतिक्रमण करता है अर्थात् सद्भावनापूर्वक पाप का प्रायश्चित्त करता है। ऐसा धार्मिक श्रावक पाप प्रवृत्ति कैसे करेगा ?

स्वयं के पास निरवद्य वस्तु का दान जैसे-ज्ञानदान, अभयदान, शास्त्रदान, वस्त्रदान, स्थानदान करने से स्वयं की आत्मा को आत्मिक लाभ न हो ऐसा दान करने के लिए श्रावक को उत्साह होता नहीं है। और

प्राप्त करने के लिए पुण्यकर्म भी सर्वथा क्षय करने होते हैं, तो फिर पुण्य कर्म किस लिए करें ?

इन सभी बातों का ध्यान रखकर जो महाव्रतधारी हो, शुभ अनुष्ठानों का मालिक हो, जीवमात्र के कल्याण की उत्कृष्ट भावनावाला हो, पाप कर्म सर्वथा या देश से बन्द किये हो ऐसे सत्पात्र अहिंसक, सदाचारी ब्रह्मचारी और पूर्ण संयमी बनकर स्वयं की आत्मा का कल्याण करनेवाला बनता है। ऐसे आशय के ये प्रश्न हैं और भगवान ने जवाब दिया है।

व्यवहार में भी हमको अनुभव होता है कि पैसा लेनेवाला मास्टर या पंडित भी अत्यन्त कुपात्र विद्यार्थी को विद्यादान नहीं देता है।

दुकानपर बैठा हुआ व्यापारी हिंसक, शराबी और दुराचारी को पैसे नहीं देना चाहता। तो फिर मोक्ष का आराधक भाग्यशाली सुपात्र को पोषे उसमें रतिमात्र भी अनुचित नहीं है।

बाकि अनुकंपादान या उचितदान द्वारा दीन, दुःखी, अनाथ और दूसरे प्रकार से भी कर्मों के भार से पतित और दलित बने हुए को भरण-पोषण के लिए दान कार्यों को जैन शासन ने निषेध नहीं किया है। जैनशासन प्रवर्तक तीर्थंकर भी दीक्षा अंगीकार के पहले वर्षभर के लिए वार्षिक दान द्वारा दीन दुःखी, लुले लंगडे आदि को लाखों करोडों रुपये और वस्त्र आदि देते हैं और फिर दीक्षा लेते हैं।

शालीभद्र सेठ और तुंगीयानगरी के श्रावक के घर के दरवाजे सभी के लिए हमेशा खुले रहते थे। वस्तुपाल तथा तेजपाल (गुजरात के मंत्री) भी अखंड दान देते थे।

कच्छ भूमि के महाश्रावक जगडुशाह ने चौराशी जात को दान दिया है और भयंकर दुष्काल में पीडित मानव और पशुमात्र को भी अभयदान दान दिया है।

भामाशाह ने देश की रक्षा के खातिर स्वयं का सर्वस्व द्रव्य राणा प्रताप को दिया था।

आज भी देश के किसी भी कोने में अकाल पड़ता है तो जैन समाज सबसे आगे रहता है। स्थान-२ पर पांजरापोल तथा जीवदया मंडलों के संस्थापक और रक्षक प्रायः करके जैनी ही हैं।

अब थोड़ा अपना विचार करें।

भगवतीसूत्र में महाव्रतधारी को दान देने का स्पष्ट विधान है परंतु महाव्रतधारी की व्याख्या करने में संप्रदायवाद के कारण से जो भूल हो गई सो ?

स्थानकवासी संप्रदाय के पं० घासीलालजी महाराज की विद्वत्ता के लिए सभी को मान होनेपर भी अत्यन्त स्पष्ट बात, प्रश्नोत्तर के संदर्भ में उनके रचे हुए भगवतीसूत्र के छट्ठे भाग के ६६४ पेज में महाव्रतधारी मुनि का अर्थ "डोरे के साथ की मुहपत्ति जिसके मुँह पर बंधी हो" ऐसा किया है अर्थात् मुहपत्ति बांधे हुए स्थानकवासी मुनि ही महाव्रतधारी होने से दान के योग्य हैं। टीका वाक्य भी स्पष्ट कहता है कि "इस व्याख्या में दिगम्बर, श्वेताम्बर, तपागच्छ, खरतरगच्छ, अंचलगच्छ और लोंकागच्छ के सभी मुनि महाव्रतधारी नहीं हैं।"

सर्वथा संकुचित बुद्धि का उपयोगकर जैनागम के अर्थों को दूषित करनेवाले पू० घासीलालजी महाराज को इनके पाप दूर करने के अलावा दूसरा मार्ग नहीं है।

श्रावक के लिए दान धर्म की उपादेयता :

स्वयं की जात को धार्मिक माननेवाले धर्मी ही धर्मियों में धन-प्रधान अंश के भी निम्न तीन दोष तो होते ही हैं !

(१) जान या अनजान में मानप्रतिष्ठा के नाते पर धन का ज्यादा अंश

में प्रहार किये बिना श्रीमंताई मिलती नहीं है क्योंकि सभी जीव शालिभद्र नहीं होते।

(२) माप तौल, मिलावट, हिसाब में गड़बड़ वाक्चातुरी और व्याज में कम–ज्यादा अंश में भी असत्यवादिता बिना धन सुलभ नहीं।

(३) बड़ी मछली जैसे छोटी को निगल जाय, बड़ा आफिसर छोटे को दंड दे, बड़ा व्यापारी छोटे व्यापारी पर रोफ करता है। इस प्रकार धन प्राप्त करने के लिए भी "मत्स्य गलागल न्याय" का आश्रय स्वीकारे बिना भी श्रीमंताई दुर्लभ है।

उपरोक्त तीन कारणों में से चाहे जैसे कारण से मिली हुई श्रीमंताई में भी दोषों की सुलभता अनिवार्य है। इससे उसकी शुद्धि के लिए पंच महाव्रतधारी मुनियों को संपूर्ण सत्पात्र समझकर और उनके स्वयं के ज्ञानादि की आराधना निर्विघ्न कर सके उसके लिए उनकी भक्ति और वैयावच्च में स्वयं की श्रीमंताई का सदुपयोग करना ही सर्वश्रेष्ठ उपादेय मार्ग है क्यों कि मुनि सर्वथा निष्पाप होते हैं। जिससे श्रीमंताई में मन–वचन–काया तथा धन से भाग लेना चाहिए। इसके जैसा दूसरा कोई धर्म नहीं है।

मोक्षरूपी बंगले में प्रवेश करने के लिए दान, शील, तप और भाव ये चार द्वार है परन्तु गृहस्थ के लिए तो सर्वश्रेष्ठ दानधर्म होने से उसके द्वारा गृहस्थ स्वयं का कल्याण साध सकता है।

इन चारों धर्म में कार्य कारणता :

इन चारों धर्म में कार्य कारण भाव रहने से सम्यक्प्रकार से एक की आराधना में चारों की आराधना का समावेश हो जाता है। दान गुण जो दाता है वह शीलवान भी है और शीलवान तपोधर्मी होता है। तथा उसके सद्भाव में भाव धर्म आवश्य होता है इसीप्रकार तप तथा शील संपन्न आत्मा दानी ही होती है वह इसप्रकार–

हम सहज समझ सकते हैं कि गृहस्थाश्रमी के लिए शील, तप तथा आर्तध्यान में फंसा होने से भाव धर्म भी अत्यन्त कठिन है अतः सबसे पहले सर्वथा सुलभ दान देने की आदत डालनी चाहिए और भावना पूर्वक दान देने से एक दिन ऐसा भी आयेगा और यह भावना होगी कि "अत्यन्त कष्टसाध्य धीमंताई के द्वारा जब मैं दीन दुखियों के दुःख में भाग लेनेवाला बन रहा हूं तो फिर एक बार के मैथुन में दो से नौ लाख जीव मर रहे हैं तो मैं स्वयं के संयम से मैथुन का ही त्याग कर उन बिचारे जीवों को भी अभयदान देनेवाला बनूं" इस प्रकार के भाव आते ही उसको शील धर्म के प्रति रुचि होगी और धीरे धीरे वह इस पाप को कंट्रोल में लेगा।

शीलधर्म की आराधना करते हुए उसके विचारों में पवित्रता बढ़ेगी और उसकी स्वयं की आत्मा की दया के प्रति उसका ध्यान केन्द्रित होगा। वह इसप्रकार :-मैं स्वयं की दया से शीलधर्म पालकर दूसरे अनेक जीवों की रक्षा कर रहा हूं तो फिर अनादिकाल से मेरी आत्मा क्रोध, मान, माया और लोभ के दूषण में फंसकर अत्यन्त भारी बनी है अतः तपस्या की आराधना से मेरी आत्मा को हल्की करूं इस आशय से तपस्या का आदर भी सुलभ बनेगा और एक दिन निम्नप्रकार से भाव की वृद्धि होगी :—

"मेरा जन्म संसार का संचालन के लिए नहीं, जैसे कोई भी जीव मेरे आधीन नहीं तो दूसरे के लिए मुझे क्यों गन्दे भाव रखने और मेरे गन्दे विचार से संसार का क्या बिगड़नेवाला है? दूसरे के लिए मैं क्यों आर्त्तध्यान करूं? इससे यह जीवात्मा भगवान से एक ही प्रार्थना करता है सभी का कल्याण हो, सभी सुखी बनो, मेरे ऊपर या भी कुछ रोष होवे मैं सभी को खमाता हूं। सभी मुझे क्षमा करो। आज से मैं ऐसा कुछ भी नहीं करूंगा, नहीं बोलूंगा जिससे कोई भी जीव मेरा शत्रु बने।"

इसप्रकार सद्भाव तथा सद्ध्यान का मार्ग सरलतम है। तब वह

कारण शील तथा दूसरा कारण दान भी है।

अब हम चारों कार्य कारणों का विस्तारपूर्वक विचारें।

सम्यग्दर्शन से हलकी आत्मा स्वयं के एक हाथ में सम्यक्चारित्ररूपी ढाल और दूसरे हाथ में सम्यग्ज्ञानरूपी तलवार लेकर मोहादि शत्रुओं को पराभव करने के बाद उसकी आत्मा स्वतः या गुरु की कृपादृष्टि से उच्च अवस्था पर आकर संसार के सभी जीवों में स्वयं की ही कल्पना करेगा और स्वयं की शक्ति द्वारा सभी को सुखी बनायेगा। फिर उसको किसी भी व्यक्ति या पदार्थ की हानि–लाभ के लिए भी सुख दुःख नहीं होगा और हमेशा अलिप्त रहेगा। तदनन्तर आत्मा को अधिक विशुद्ध बनाने के लिए तप धर्म का आश्रय लेकर उसमें पूर्ण मग्न बनेगा। फिर तो मैथुन कर्म द्वारा लाखों करोड़ों जीवों को किसलिए हनन करनेवाला बनूं। ऐसी भावना होते ही ब्रह्म की उपासना में आगे बढ़ेगा तथा ब्रह्म की आराधना में एकाकारता होते ही संसार के प्रत्येक जीव को यथायोग्य किसी को अभयदान, ज्ञानदान, बुद्धिदान, किसी को चातुरीदान तथा किसी को धर्मदान तथा मोक्षदान देने जितनी शक्ति भी उसमें उत्पन्न होगी।

तीर्थंकर भगवन्त ने भी मोक्ष में जाने के लिए दानादिक चार दरवाजे "अर्थात् जैन शासनरूपी सरोवर में नवतत्त्वरूपी कमल लेने के लिए दान शील–तप–भाव ये चार द्वार कहे हैं। क्योंकि दरवाजे में प्रवेश किये बिना आगे नहीं बढ़ सकते हैं।

अब हम प्रश्नोत्तर में प्रवेश करें—

भगवतीसूत्र में गौतमस्वामी के पूछने से भगवान ने कहा कि आहार प्राप्त करने की इच्छा से श्रावक के घर आये मुनिराज को वह गृहस्थ (गाथापति) दो पिंड के लिए निमंत्रण देते हुए कहता है—हे पूज्य मुनिवर इन दो पिंडों में से एक आप लेना तथा दूसरा उन स्थविर को देना यह कह कर वह गृहस्थ मुनिराज को दो पिंड देता है। धर्मलाभ देकर मुनिराज स्वयं के उपाश्रय आये। एक पिंड स्वयं के लिए रखकर दूसरा पिंड श्रावक

के कहे अनुसार स्थविर को देने के लिए उनकी तलाश करता है। यदि वह मिल जाय तो ठीक अन्यथा इस पिंड का क्या करना? क्योंकि वह पिंड जो स्थविर के लिए निर्णीत है। अतः उसका पिंड वह खा जाय तो खानेवाले मुनि को अदत्तादान का दोष लगता है? द्रव्य तथा भाव से सूक्ष्म तथा बादरदोष को त्याग करनेवाले जैन मुनि अदत्तादान का सेवन नहीं करते हैं। जवाब में भगवान ने कहा कि—हे गौतम! स्थविर की तलाश करते हुए भी नहीं मिले तो गृहस्थ के दिये हुए पिंड को एकान्त, निर्दोष और जीवरहित जमीन में परठ (त्याग) देना चाहिए।

इसी तरह तीन, चार, पांच, छः, सात, आठ, नौ या दस पिंड को देते हुए गृहस्थ कहता है कि इसमें से एक तुम वापरना तथा बाकि अमुक अमुक को देना। जवाब में भगवान ने उपरोक्त विधि कही तथा वस्त्र, पात्र, रजोहरण के लिए भी यही विधान है। अर्थात् स्वयं भी वापरे और वह मुनि मिल जाय तो उसको देना अन्यथा परठ देना।

जैन मुनि निवृत्ति प्रधान होने से स्वयं के आत्मिक संयम को तथा लिये हुए व्रत को पौंचना भी दूषण नहीं लगे और जो वस्तु स्वयं की नहीं तथा जिसके सेवन से मन-वचन-काया में विकृति-रोग तथा दूसरी कोई बाधा उत्पन्न होने की संभावना हो या जो वस्तु पास में रखने से स्वयं को वहीं से आर्तध्यान होने का प्रसंग आवे उस वस्तु के ऊपर का ममत्व सर्वथा छोड़देने के लिए वस्तु को परठ देने का अधिकार है जो आज भी प्रचलित है।

संयम की साधना के दृष्टिकोण को मुख्य मानकर ही जैन मुनियों के लिए ऐसा नियम है।

किये हुए अकृत्य स्थानों की वक्तव्यता :

"मेरे पात्र में पिंड पड़ो" ऐसी प्रतिज्ञावाला कोई मुनि गोचरी के लिए जाता है। और वहां मूल गुण की विराधना रूप कुछ अकृत्य कर

हो। स्थविरों से कारण पूछने पर उन्होंने कहा कि तुम जैनमुनि एक स्थान पर जाते आते पृथ्वी के जीवों को—

अभिहणह—दबाते हो, तुम्हारे पांव से उनको आघात करते हो।

वत्तेह—पैर के आघात से उनके टुकड़े करते हो।

लेसेह—पैर से दबाते हो।

संघाएह—पैर से उनको घिसते हो संघर्षित करते हो।

संघट्टेह—जहां तहां से उनको एकत्रित करते हो।

परितावेह—उनको परिताप देते हो।

किलामेह—उनको दुःखी करते हो।

उद्दवेह—उन जीवों को मार डालते हो।

इस प्रकार पृथ्वीकाय के जीव को तुम मार डालनेवाले हो। अतः असंयत यावत् बाल हो।

जवाब में स्थविरों ने कहा कि—हम पृथ्वीकाय के जीव को दबाते नहीं यावत् मारते नहीं। क्योंकि हम जो गमनागमन करते हैं वह केवल सर्वथा अनिवार्य रूप, मल—मूत्र के त्याग, ग्लान—बाल—वृद्ध मुनि आदि का वैयावच्च, दूसरे जीव के उपद्रव समय अर्थात् जलकाय या त्रसकाय जीव के संरक्षणरूप संयम की आराधना के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान की तरफ, एक गांव से दूसरे गांव की तरफ जाते हैं तथा हम पानी—वनस्पति तथा दूसरे कोई सचित्त पदार्थ का स्पर्श नहीं करते हैं। जो मार्ग प्रचलित होता है वहां से जाते हैं क्योंकि वहां पृथ्वीकाय के जीव नहीं होते हैं।

बिना हल चलाई पृथ्वी सर्वथा सचित्त होने से पांव भी नहीं रखते मल—मूत्र भी नहीं करते या दूसरे किसी प्रकार का पानी भी नहीं फेंकते। हैं तो हलका पांव रखकर अर्थात् ईर्यासमितिपूर्वक दोनों आंखों का

उपयोग कर जहां एक भी छोटा जंतु न हो इस प्रकार चलते हैं अतः हमारे गमनागमन में एक भी जीव मरता नहीं, दबता नहीं तथा परिताप भी नहीं होता है।

हम जब संयम स्वीकारते हैं तब अरिहंत भगवंतों की तथा गुरु महाराज की साक्षी से मन–वचन काया से करना कराना तथा अनुमोदन से पृथ्वीकाय के जीव का हननरूप प्राणातिपात का सर्वथा त्याग करते हैं। ऐसा करने से सतरह भेद से विशुद्ध संयम का पालन करते हैं। इस कारण से हम प्राणातिपातादि पाप का त्याग करने से तथा ली हुई प्रतिज्ञा का बराबर पालन करने से जैन मुनि ही संयत, विरत और प्रतिहत पापकर्म वाले होते हैं।

हे आर्यो! तुम वैसे नहीं यह निश्चित जानना। क्योंकि तुम्हारे सिद्धांत में जीव का स्वरूप ही स्पष्ट नहीं है। तथा उनके संयम की व्यवस्था भी नहीं। उसी प्रकार ईर्यासमिति आदि की ट्रेनिंग भी नहीं है।

जैन मुनि का स्पष्ट जवाब सुनने के बाद निराश हुए अन्य तीर्थिकों ने स्थविर से कहा कि—तुम जैन मुनि गम्यमान (जहां जाते हो) व्यतिक्रम्यमाण (जिस स्थान को उल्लंघते हो) उसको अगत तथा अव्यतिक्रांत मानते हो। राजगृही नगरी में पहुँचने की इच्छावाले को तुम लोग उस नगर को असंप्राप्त मानते हो।

जवाब में स्थविर ने कहा कि—हम लोग गम्यमान स्थान को गत, व्यतिक्रम्यमाण स्थान को व्यतिक्रांत और राजगृही नगरी तरफ प्रस्थान किये हुए को राजगृह संप्राप्त मानते हैं।

अरे आर्यो! व्यवहार की भाषा भी तुमने सुनी है? लोगों में मंजिल पर जानेवाला व्यक्ति तो प्रथम सोपान पर ही पांव रखता है, तो भी हम कहते हैं कि 'यह मनुष्य मंजिल पर गया है', मंजिल अभी संप्राप्त नहीं, तो भी तुम और हम बोलते हैं और भाव समझ लेते हैं। निश्चय भी इस व्यवहार को सत्य मानता है।

करे तो हम को भी आश्चर्य होता है कि दूसरे को सदाचार दिखानेवाला मैं कितना दुराचारी ? दानेश्वरी की प्रशंसा करने के बाद भी मेरी कितनी कंजुसी ? समताभाव का उपदेश देनेवाला मैं स्वयं कितना क्रोधी ? तपस्या का उपदेशक मैं कितना खानेवाला ? संघ की महिमा गाने के बाद मैंने संघ को कितनी हानि पहुँचाई ? त्याग धर्म की चरम सीमा दिखाने के बाद मैं अकेला कितना परिग्रही ? इत्यादि अगणित बातों का निरीक्षण करते हुए अपने को लगेगा कि ऐसा कैसे होता है ? मन को बहुत ही समझाने के बाद जब ऐसा बनता है तब हमारे पूर्व भव के संस्कार की और माता पिता के कुसंस्कार की ताकत का माप निकालते देर नहीं लगती।

अनेक बार इन्द्रियों तथा मन को आधीन नहीं होने की आत्मिक तैयारी करने के बाद भी किसी थोड़े अंश में निमित्त मिलते ही हमारे मन में शिथिलता आते ही इन्द्रियों की गुलामी फिर से स्वीकार करके अपकृत्य करने बैठते हैं और बाद में मस्तक पर हाथ रखकर पश्चाताप करते हैं।

वैसे पूरी जिन्दगी इन्द्रियों की गुलामी छोड़ नहीं सकते और मगर के आंसू जैसा पश्चाताप भी छोड़ नहीं सके और भव पूर्ण हो गया। इस प्रकार इन्द्रियों के २३ विषय में आसक्त बने हुए जीव परलोक प्रत्यनीक कहलाते हैं अर्थात् वह स्वयं के अगले भव को बिगाड़नेवाले हैं।

उभयलोक प्रत्यनीक :

इसमें यह भव तथा परभव को बिगाड़वाले का समावेश होता है। मानवमात्र का जीवन स्वयं के पूर्वभव में किये पापकर्म तथा पुण्यकर्म के आधीन है। तभी लाखों मनुष्यों को हम जानते हैं :—

1. विवाहित जीवन की इच्छा होनेपर भी लग्नग्रन्थी से जोड़ने का सामर्थ्य भी बहुतों को नहीं होता है।

रोग आदि से पीड़ित बीमार साधु। शैक्ष नई दीक्षा लिये हुए मुनि।

ये तीनों मुनि भक्ति के योग्य हैं अतः अनुकंप्य हैं। उनकी भक्ति करने में और कराने में उनके दोष आदि को प्रगटकर अंतराय करना यह रूप अनुकंप्य प्रत्यनीक कहलाते हैं।

सूत्र के आश्रय से प्रत्यनीक तीन हैं। सूत्र प्रत्यनीक, अर्थ प्रत्यनीक और तदुभय प्रत्यनीक।

सूत्र प्रत्यनीक अर्थात सम्यग्ज्ञान के खजाना रूप जैन शासन के मूल सूत्रों के प्रति असद्भाव रखना, शक्ति होनेपर भी सूत्रको पढ़ने पढ़ाने का अभ्यास न करना तथा पढ़े हुए सूत्र को भूल जाना यह सूत्र प्रत्यनीक है।

अर्थ प्रत्यनीक वंदित्तु आदि प्रतिक्रमण सूत्र और जीवविचार आदि प्रकरण ग्रन्थ यादकर लिए हैं परंतु उसके भाव तथा भावार्थ समझने में बेदरकार है। वह अर्थ प्रत्यनीक है तथा तदुभय प्रत्यनीक सूत्र तथा अर्थ के ऊपर बेदरकार रहनेवाले तदुभय प्रत्यनीक है।

इसी प्रकार भाव प्रत्यनीक भी तीन हैं।

ज्ञान प्रत्यनीक, दर्शन प्रत्यनीक और चारित्र प्रत्यनीक। यहां भाव अर्थात् पर्याय, प्रशस्त तथा अप्रशस्त दोनों पर्याय जीव में होते है। क्षायिक भाव जो प्रशस्त पर्याय है उसके प्रति उदासीनता रखनी यह भाव प्रत्यनीक है।

जैसे प्राकृत भाषा में सूत्र किसने रचे? दान बिना के चारित्र का क्या प्रयोजन? इत्यादि।

पांच प्रकार का व्यवहार :

प्रश्न—यही प्रत्यनीक यदि स्वयं अपने आप समझकर स्वयं का धर्म समझ ले और गुरु आदि को मिच्छामि दुक्कडं देकर फिरसे उसका पुनरा-

रोग आदि से पीड़ित बीमार साधु। शैक्ष नई दीक्षा लिये हुए मुनि।

ये तीनों मुनि भक्ति के योग्य है अतः अनुकंप्य है। उनकी भक्ति करने में और कराने में उनके दोष आदि को प्रगटकर अंतराय करना यह रूप अनुकंप्य प्रत्यनीक कहलाते हैं।

सूत्र के आश्रय से प्रत्यनीक तीन हैं। सूत्र प्रत्यनीक, अर्थ प्रत्यनीक और तदुभय प्रत्यनीक।

सूत्र प्रत्यनीक अर्थात् सम्यग्ज्ञान के खजाना रूप जैन शासन के मूल सूत्रों के प्रति असद्भाव रखना, शक्ति होनेपर भी सूत्र को पढ़ने पढ़ाने का अभ्यास न करना तथा पढ़े हुए सूत्र को भूल जाना वह सूत्र प्रत्यनीक है।

अर्थ प्रत्यनीक वंदित्तु आदि प्रतिक्रमण सूत्र और जीवविचार आदि प्रकरण ग्रन्थ यादकर लिए है परंतु उसके भाव तथा भावार्थ समझने में बेदरकार है। वह अर्थ प्रत्यनीक है तथा तदुभय प्रत्यनीक सूत्र तथा अर्थ के ऊपर बेदरकार रहनेवाले तदुभय प्रत्यनीक है।

इसी प्रकार भाव प्रत्यनीक भी तीन हैं।

ज्ञान प्रत्यनीक, दर्शन प्रत्यनीक और चारित्र प्रत्यनीक। यहां भाव अर्थात् पर्याय, प्रशस्त तथा अप्रशस्त दोनों पर्याय जीव में होते है। क्षायिक भाव जो प्रशस्त पर्याय है उसके प्रति उदासीनता रखनी वह भाव प्रत्यनीक है।

जैसे प्राकृत भाषा में सूत्र किसने रचे? दान बिना के चारित्र का क्या प्रयोजन? इत्यादि।

पांच प्रकार का व्यवहार :

प्रश्न—यदि प्रत्यनीक यदि स्वयं अपने आप समझकर स्वयं का धर्म समझ ले और गुरु आदि को मिच्छामि दुक्कडं देकर फिरसे उसका पुनरा-

रोग आदि से पीड़ित बीमार साधु। शैक्ष नई दीक्षा लिये हुए मुनि।

ये तीनों मुनि भक्ति के योग्य है अतः अनुकंप्य है। उनकी भक्ति करने में और कराने में उनके रोग आदि को प्रमादकर अंतराय करना वह या अनुकंप्य प्रत्यनीक कहलाते हैं।

सूत्र के आश्रय से प्रत्यनीक तीन हैं। सूत्र प्रत्यनीक, अर्थ प्रत्यनीक और तदुभय प्रत्यनीक।

सूत्र प्रत्यनीक अर्थात सम्यग्ज्ञान के खजाना रूप जैन शासन के मूल सूत्रों के प्रति असद्भाव रखना, शक्ति होनेपर भी सूत्र को पढ़ने पढ़ाने का अभ्यास न करना तथा पढ़े हुए सूत्र को भूल जाना यह सूत्र प्रत्यनीक है।

अर्थ प्रत्यनीक वंदित्तु आदि प्रतिक्रमण सूत्र और जीवविचार आदि प्रकरण ग्रन्थ यादकर लिए है परंतु उसके भाव तथा भावार्थ समझने में बेदरकार है। यह अर्थ प्रत्यनीक है तथा तदुभय प्रत्यनीक सूत्र तथा अर्थ के ऊपर बेदरकार रहनेवाले तदुभय प्रत्यनीक है।

इसी प्रकार भाव प्रत्यनीक भी तीन हैं।

ज्ञान प्रत्यनीक, दर्शन प्रत्यनीक और चारित्र प्रत्यनीक। यहाँ भाव अर्थात् पर्याय, प्रशस्त तथा अप्रशस्त दोनों पर्याय जीव में होते है। क्षायिक भाव जो प्रशस्त पर्याय है उसके प्रति उदासीनता रखनी यह भाव प्रत्यनीक है।

जैसे प्राकृत भाषा में सूत्र किसने रचे ? दान बिना के चारित्र का क्या प्रयोजन ? इत्यादि।

पांच प्रकार का व्यवहार :

प्रश्न–यही प्रत्यनीक यदि स्वयं अपने आप समझकर स्वयं का धर्म समझ ले और गुरु आदि को मिच्छामि दुक्कडं देकर फिरसे उसका पुनरा-

प्रत्युत्तर में भगवान ने फरमाया कि हे गौतम ! पहले के छ प्रकार के जीव वेदोदयवाले भी हो सकते हैं अतः वे ऐर्यापथिक कर्म के बंधक नहीं हैं। परंतु पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से वेदरहित जीव ही बांधते क्योंकि इसमें केवली, क्षीणमोही और सयोगी दोनों प्रकार के होने से पूर्वप्रतिपन्न जीव बहुत होते हैं। अतः बहुवचन में बात की है प्रतिपद्यमान में वेदरहित जीव या वेदरहित जीवात्माएँ इस कर्म को बांधते हैं।

प्रश्न—हे प्रभु। वेदरहित जीव, ऐर्यापथिक कर्म को बांधते हैं तो क्या ?

(१) स्त्री पश्चात्कृत अवेदक जीव बांधती है ?

(२) पुरुष पश्चात्कृत अवेदक जीव बांधता है ?

(३) नपुंसक पश्चात्कृत अवेदक जीव बांधता है ?

(४) स्त्री पश्चात्कृत अवेदक जीव बांधते हैं ?

(५) पुरुष पश्चात्कृत अवेदक जीव बांधते हैं ?

(६) नपुंसक पश्चात्कृत अवेदक जीव बांधते हैं ?

(एक संयोगी छः भेद)

(१) अवेदक स्त्री पश्चात्कृत और पुरुष पश्चात्कृत जीव ?

(२) अवेदक स्त्री पश्चात्कृत और पुरुष पश्चात्कृत जीवों ?

(३) अवेदक स्त्री पश्चात्कृत जीव पुरुष पश्चात्कृत जीव ?

(४) अवेदक स्त्री पश्चात्कृत जीव और पुरुष पश्चात्कृत जीवों ?

(५) अवेदक स्त्री पश्चात्कृत जीव और नपुंसक पश्चात्कृत जीव ?

(६) अवेदक स्त्री पश्चात्कृत जीव और नपुंसक पश्चात्कृत जीवों ?

(७) अवेदक स्त्री पश्चात्कृत जीवों और नपुंसक पश्चात्कृत जीव ?

(८) अवेदक स्त्री पश्चात्कृत जीवों और नपुंसक पश्चात्कृत जीवों ?

पहला भांगा हुआ, दूसरा भांगा भी निम्न प्रकार का होगा—

(१) किया है ? करते है ? करेंगे ?

(२) किया है ? करते है ? नहीं करेंगे ?

(३) किया है ? करता नहीं ? करेंगे ?

(४) किया है ? करता नहीं ? नहीं करे ?

(५) नहीं किया ? करते है ? करेंगे ?

(६) नहीं किया ? करते है ? नहीं करे ?

(७) नहीं किया ? करता नहीं ? करेंगे ?

(८) नहीं किया ? करता नहीं ? नहीं करे ?

इस प्रकार के ऊपर के आठ विकल्प भवाकर्ष की अपेक्षा से जानने।

अनेक भव में उपशम श्रेणी की प्राप्ति होनेपर ईर्यापथिक कर्म को ग्रहण करना वह भवाकर्ष कहलाता है। अब आठ विकल्पों को जरा विस्तार से जान ले—

(१) अवेदक (वेद रहित) जीव पूर्वभव में किसी समय मोह का उपशम होनेपर ईर्यापथिक कर्म का बंध किया था। इस चालू भव में मोह का उपशम होने पर फिर से बंध करता है और भविष्य में भी मोह की उपशान्तता में बंध करेगा।

(२) किसी जीव ने पूर्वभव में ११ वे गुणठाणे पर आने के बाद बंध किया। १२ वे क्षीण मोह अवस्था में भी करता है पर शैलेशी अवस्था मे बंध नहीं करता।

(३) पूर्वभव में बंध किया परन्तु ११ वे गुण ठाणे से नीचे उतर जाने से बन्ध करता नहीं परन्तु फिर से करेगा।

[illegible] और [illegible] परिषह ये तीनों चीजें [illegible] कारण रूप हैं और उन चीजों को सहन करने में चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम काम करता है। क्योंकि सहन करना यह चारित्र है। [illegible] भी [illegible] मोहनीय के क्षयोपशम से ही हो सकता है।

अरति परिषह में अरति मोहनीय कर्म कारण रूप है। अचेल परिषह का जुगुप्सा मोहनीय कर्म में समावेश होता है, स्त्री परिषह में वेदकर्म काम करता है। नैषेधिकी परिषह से भय की उत्पत्ति होती है अतः भय मोहनीय कर्म में समावेश होता है। याचना परिषह मान मोहनीय कर्म के कारण से है। क्योंकि मान मोह को छोड़कर याचना दुष्कर होती है आक्रोश परिषह में क्रोध नाम का मोह काम करता है। सत्कार, पुरस्कार परिषह में मान, मोहकर्म के उदय की संभावना होने से मोहकर्म में समावेश होता है।

अलाभ परिषह—लाभान्तराय कर्म के कारण से इस परिषह की संभावना होती है। जो जीव सात कर्म का बंधक है उनको ऊपर के २२ परिषह होते हैं। पर एक साथ बीस परिषह को वेदेगा। जिस समय शीत परिषह का उदय होगा तब उष्ण वेदना नहीं होगी। वैसे चर्यापरिषह की विद्यमानता में नैषेधिकी नहीं होगी। बाकि का विस्तार मूल सूत्र से जानना।

जंबूद्वीप के दोनों सूर्य की वक्तव्यता :

मेरु पर्वत की समतल भूमि से जंबूद्वीप में उदयास्त होते हुए दोनों सूर्य ८०० योजन की ऊँचाई पर ही विद्यमान है। इसमें किसी समय भी फेरफार नहीं होनेपर भी अर्थात् चाहे जैसी स्थिति में नियत की हुई ऊँचाई से सूर्य कभी भी नीचे नहीं आता तथा इससे ऊपर भी नहीं जा सकता। शास्त्रोक्त हकीकत इतनी सत्य होनेपर भी सूर्य, उदय तथा अस्त के समय दूर होनेपर भी देखनेवाले को पास में क्यों दिखता है ? और दोपहर में पास में दिखता सूर्य इतना दूर क्यों दिखता

है ? अर्थात् दूर रहने पर भी सूर्य उदय के समय देखनेवाले को पास जैसा दिखता है और अस्त के समय भी पास जैसा दिखता है। मध्याह्न में बिल्कुल पास में दिखने पर भी दूर-२ लगता है। ऐसा क्यों तथा कैसे होता है ?

जवाब में भगवान ने कहा कि—उदय के समय सूर्य की लेश्या [तेज] का प्रतिघात अर्थात् स्वयं के तेज का विकास नहीं होने से सुखदृश्य अर्थात् सभी को देखने जैसा होता है। अतः गौतम ! सूर्य उदयकाल में देखनेवाले को दूर होकर भी नजदीक में दिखता है और अस्त के समय भी ऐसा ही है। जबकि मध्याह्नकाल में सूर्य सभी प्रकार से तेज होता है। अतः दुर्दृश्य होने से यह ऐसा होने से मस्तक के ऊपर पास में दिखने पर भी दूर-२ दिखता है।

हे प्रभु ! जंबूद्वीप के दोनों सूर्य क्या अतिक्रांत में जाते हैं ? वर्तमान क्षेत्र में जाते हैं ? अथवा अनागत क्षेत्र में जाते हैं ?

गमन किया हुआ मार्ग जो उल्लंघन किया है वह अतिक्रांत उल्लंघन किया जानेवाला मार्ग वर्तमान है। और जिसका भविष्य में या कुछ घंटे बाद जहाँ जाने का होता है अनागत क्षेत्र कहलाता है।

भगवान ने कहा कि—सूर्य ने जिन मार्गों को पार कर लिया है उस क्षेत्र में सूर्य नहीं जाता। भविष्य में जिन मार्गों पर जाएगा उन मार्गों के क्षेत्र में वर्तमानकाल में नहीं जाता पर वर्तमान क्षेत्र में ही सूर्य जाता है।

जैसे कि दिन भर में सूर्य को [illegible] कलाक चलने का होता है उसमें से २३ कलाक चल चुका है तथा २४ वीं कलाक में चल रहा है। अर्थात् जिन कलाक का क्षेत्र पसार किया है, अतः २३ वीं कलाक की तरफ सूर्य नहीं जाता और वर्तमान कलाक को छोड़कर आगे की कलाक के क्षेत्र में वर्तमान में नहीं जाएगा अतः वर्तमान क्षेत्र में ही सूर्य गति करता है। इस प्रकार अतिक्रांत या अनागत क्षेत्र को स्पर्श नहीं करता। परंतु वर्तमान क्षेत्र

को ही प्रकाशित करता है और वह भी संबंधित क्षेत्र को ही प्रकाशता है। ६ दिशाओं को प्रकाशित करता सूर्य, स्पष्ट रूप से क्षेत्र को प्रकाशित करता है, तपाता है। दोनों सूर्य स्वयं के विमान से ऊंचे १०० योजन क्षेत्र को तपाता है।

१८०० योजन स्वयं के नीचे के क्षेत्र को तपाता है। तिर्छा ४७२६३ २०/६० योजन प्रमाण तपाता है। भगवान महावीर स्वामी की दिव्यवाणी सुनकर गौतमस्वामी प्रसन्न हुए प्रभावित हुए तथा भगवान का गुणानुवाद किया।

॥ नवमां उद्देशक समाप्त ॥

गौतमस्वामी ने पूछा कि—हे प्रभु ! यह बंध प्रायोगिक क्या है? कैसे होता है?

भगवान ने कहा कि—'बध्यते अनेन इति बन्धन' जिसके द्वारा बांधने में आवे वह बंधन है। परमाणुमात्र में रही हुई स्निग्धता और रूक्षता ही एक परमाणु को दूसरे के साथ यावत स्कंध रूप में भी बांधने का काम करती है।

परमाणुमात्र में स्निग्धता या रूक्षता रही हुई होती है। बेशक! तारतम्यभाव से कम ज्यादा हो सकती है। ये दोनों या एक-एक के कारण से पुद्गल आपस में बंधते हैं। अतः वे बंधन आदि हैं। इस बंध का समय कम से कम एक समय का है और ज्यादा में असंख्यात काल का है।

इस बंधन में स्निग्धता और रूक्षता की मात्रा कितनी होनी चाहिये उसकी चर्चा करते हुए भगवान ने कहा है कि समभाग में रूक्षता तथा स्निग्धता हो तो परस्पर बंधन नहीं होता है पर दुगनी से अधिक स्निग्धता तथा रूक्षता होगी तो ही बंधन होगा। जैसे कि परमाणु या स्कंध जिस गुण में है। उससे भी ज्यादा मिलनेवाले परमाणु या स्कंध में दो गुण अधिक गुण होने

हे प्रभु ! ज्ञानावरणीय कार्मणशरीर प्रयोगबंध में कौनसे कारण है। अर्थात किस कारण और किस कर्म के उदय से इस शरीर का बंध होता है ?

भगवान ने कहा कि—सात प्रकार से यह कर्म बंधता है।

णाणपडिणीययाए—सम्यगश्रुतज्ञान और ज्ञानी महापुरुष के प्रति प्रत्यनीकता तथा प्रतिकूलता का भाव रखना तथा सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिये विरोध भाव रखना।

णाणनिण्हवणयाए :—सम्यग्ज्ञान और ज्ञानी का अपलाप करना जिस गुरु के पास कुछ अंश में ज्ञान प्राप्त किया हो उसका अपलाप करना उनके लिये खराब शब्द बोलना तथा उनका नाम छिपा देना।

णाणतराएणं :—जिससे जीवमात्र स्वयं की आत्मा को प्रकाश प्राप्त करने में भाग्यशाली होता है उस सम्यग्ज्ञान में अंतराय करना। पढ़ने गुननेवालो को विघ्न डालना।

णाणओसेणं :—सम्यग्ज्ञान के प्रति और ज्ञानी भगवंत आचार्य उपाध्याय, मुनि या गृहस्थ के प्रति द्वेष अप्रीति रखना अर्थात ज्ञानप्राप्त करने के लिए खराब भाव रखना। जैसे कि धर्मशास्त्र को नहीं पढ़ा तो अपना क्या बिगड़ा ? धर्म का पढ़ने से क्या लाखों रुपये मिलेंगे ? इस प्रकार ज्ञान के प्रति अरुचि रखनी।

णाणआसायणाए :—ज्ञान की हेलना करनी, ज्ञान की आशातना करनी तथा ज्ञान और ज्ञानी के साथ वक्रता रखनी।

णाणविसंवायणा जोगेणं :—ज्ञान तथा ज्ञानी में अधूरेपन का दावा करना तथा उनमें अंतर दोषों का उद्घाटन करना।

उपरोक्त कारण बाह्य हैं। जब पूर्व भव के उपार्जन किये हुए

लोभ के पर्याय :— लोभ, अतिसंग्रहशीलता, [illegible] भाव, ममत्व, कृपणता, मूर्छा, धन का अतिलोभ, महा लोभ, भव, पुत्र, परिवार, [illegible], वस्त्र, आभूषण, [illegible], प्रतिष्ठा का लोभ तथा सत्ता की प्राप्ति के लिए [illegible] करना ये सब लोभ हैं।

नारकायुष्य कार्मणशरीर प्रयोग :

महारंभ, महापरिग्रह, अभक्ष्य आहार पानी तथा पंचेन्द्रिय जीव वध करना ये नारक पर्याय के कारण हैं।

तिर्यंच आयुष्य कार्मणशरीर बन्ध :

माया जीवन, कपटपना, असत्य वचन, झूठे मापतोल तिर्यंच आयुष्य बांधने के कारण हैं।

मनुष्यायुष्य कार्मणशरीर प्रयोग बन्ध :

भद्रिक स्वभाव, विनीत, अमत्सरी दयालुता।

देवायुष्य कार्मण शरीर प्रयोग बन्ध

सराग संयम, देशविरती, अज्ञानतप, अकाम निर्जरा।

शुभ नामकार्मशरीर प्रयोगबन्ध।

योग जिसके सरल हो और सभी के साथ प्रेमालु जीवन हो वह शुभनाम कर्म उपार्जन करता है।

इसके विपरीत अशुभनाम कर्म जब मन, वचन, काया, की प्रवृति में और भाषा में वक्रता हो और योगो में विसंवादन अर्थात् अन्यथा प्रतिपन्न वस्तु को अलग प्रकार से कहना वह विसंवादन है।

उच्च गोत्र कार्मण शरीर प्रयोग बन्ध :—

उपभोग का अंतराय करने से उपभोगान्तराय कर्म और दूसरे की या स्वयं की शक्ति का अंतराय करने से वीर्यांतराय कर्म का बंध होता है।

॥ दसवां उद्देशक समाप्त ॥
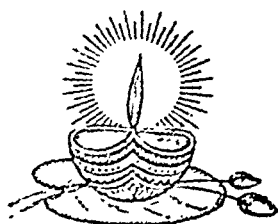
शतक आठवां उद्देशक—११

अन्य यूथिकों के साथ चर्चा :

हे प्रभु! अन्य यूथिकों का (अन्य मतावलंबियों) यह मंतव्य है कि—

(१) शील ही श्रेष्ठ है।

(२) दूसरे ज्ञान को ही श्रेष्ठ मानते हैं।

(३) कोई परस्पर की अपेक्षा के बिना शील तथा श्रुत को श्रेयस्कर कहते हैं।

तर जाय वह पात्र चाहे ज्ञानवान हो तो भी कुछ नहीं और अकेला क्रियावाला हो तो भी कुछ नहीं।" अतः शील और ज्ञान साधक को पवित्र करनेवाला होने से दोनों अपने-२ स्थानपर श्रेष्ठ हैं तीसरा यह कहता है" क्रिया का उपकारक ज्ञान होने से वह गौण होगा तो भी चलेगा परन्तु मोक्ष के लिए क्रिया की आवश्यकता जरूरी है जबकि इसके विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि ज्ञानपर क्रिया का उपकार है। अतः क्रिया गौण होगी तो भी चलेगा पर ज्ञान तो मुख्य रूप से होना चाहिए। यह चारों पक्ष फल सिद्धि के लिए अनुपयुक्त होने से मिथ्या है।

जैन पक्ष का कथन है कि मोक्ष फल के लिए "आत्मा को प्रकाश करनेवाला ज्ञान, शोधन करनेवाला तप तथा आत्मा, मन और इन्द्रियों को संयमित करनेवाला संयम होता है। अतः ज्ञान, तप और संयम ही मोक्ष का कारण है।" तप और संयम क्रिया होने से शील कहलाता है। जैन शासन कहता है कि "ज्ञान तथा क्रिया अपने-२ स्थानपर मुख्य बन कर ही मोक्षफल देनेवाले बनते हैं। एकचक्र से रथ नहीं चलता है वैसे ज्ञान बिना की क्रिया और क्रिया बिना का ज्ञान फलदायी नहीं बनता अतः "ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः" वन में फंसा हुआ अंधा तथा लंगड़ा यदि एक दूसरे की सहायता न स्वीकारे तो उन दोनों को वहां मरे बिना छुटकारा नहीं है। अतः गौतम ! ज्ञानवती क्रिया और क्रियावान ज्ञान फलदायी है। ऐसा क्यों है ?

जवाब में भगवान ने कहा कि मैंने पुरुषों के चार प्रकार कहे हैं–

(१) शील संपन्न है पर ज्ञान संपन्न नहीं।

(२) ज्ञान सम्पन्न है पर शील सम्पन्न नहीं।

(३) ज्ञान और शील सम्पन्न हैं।

(४) ज्ञान और शील सम्पन्न नहीं हैं।

का उपयोग करना यह चारित्राचार कहलाता है। तीनों की आराधना उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य प्रकार से होती है।

मोक्षमार्ग के प्रति अधिक प्रयत्न जिसमें किसी प्रकार का प्रमाद नहीं। उसे उत्कृष्ट आराधना कहते हैं। प्रयत्न में थोड़ी शिथिलता हो, प्रमाद हो वह मध्यम आराधना है।

प्रयत्न में अधिक शिथिलता और अधिक प्रमाद हो वह जघन्य आराधना है।

किसको कितनी आराधना :

जिस भाग्यशाली को ज्ञान की उत्कृष्ट आराधना वर्तती हो उसे दर्शनाराधना उत्कृष्ट तथा मध्यम होगी। जिसे दर्शनाराधना उत्कृष्ट हो उसे ज्ञानाराधना तीनों प्रकार की होती है।

इसप्रकार ज्ञान और चारित्र का सम्बन्ध भी जानना। जिस भाग्यशाली की दर्शनाराधना उत्कृष्ट होती है उसकी चारित्राराधना तीनों प्रकार की होती है परन्तु जो उत्कृष्ट रूप से चारित्राराधक होगा उसे दर्शनाराधना भी निश्चय उत्कृष्ट होगी। उत्कृष्ट रूप से ज्ञान दर्शन की आराधना करनेवाला कोई उसी भव में, कोई दूसरे भव में मोक्ष मे जाता है और कोई कल्पोपन्न देव के मालिक बनते हैं। उत्कृष्ट चारित्र-राधक भी एक या दूसरे भव में मोक्ष में जाते हैं और कितने कल्पातीत देवलोक में जाते हैं।

ज्ञान दर्शन की मध्यम आराधना करनेवाला दो या तीन भव में मोक्ष में जाता है और जघन्य से दर्शन ज्ञान तथा चारित्र का आराधक सात या आठ भव से अधिक भव नहीं करता है। आत्मा में जितने अंश में पवित्रता, सरलता और एकाग्रता होगी उतनी ही आराधना सुन्दर बनेगी आराधना का पुद्गलिक शरीर इन्द्रिय तथा मन के साथ सीधा सम्बन्ध

यथाहि:-वर्णपरिणाम गंध परिणाम, रस परिणाम, स्पर्श परिणाम और संस्थान परिणाम।

अर्थात् जहां वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हो वह पुद्गल ही है। जीव को गंध, वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान नहीं होता अतः पुद्गल नहीं है।

वर्ण परिणाम के पांच प्रकार है—

श्वेत, पीत, रक्त, नील और कृष्ण वर्ण ये मूलवर्ण हैं बाकि एक दूसरे के मिश्रण से होता है। परिणाम से लेकर स्कंध तक के पुद्गल में एक न एक वर्ण निश्चय होता है।

रस परिणाम के पांच प्रकार है—

तिक्त (तीखारस), कटु (कड़वा रस), कषाय (तुरारस), आम्ब (खट्टारस) और मधुर (मीठारस)

गंध परिणाम, सुरभि और दुरभि गंध दो प्रकार के हैं।

आठ प्रकार के स्पर्श परिणाम है। शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, लघु, गुरु, मृदु, कर्कश। परमाणु मात्र में एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श होते है।

संस्थान परिणाम—

कितने स्कंध चूड़ी की तरह गोल होते हैं।

,, ,, गोलाकार होते हैं।
,, ,, तिकोन होते हैं।
,, ,, चोरस होते हैं।
,, ,, लम्बे होते हैं।

आठ कर्म :

हे गौतम! कर्म आठ प्रकार के होते हैं। "क्रियते इतिकर्म" इस व्युत्पत्ति से वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से मन वचन-काया का जो

बन जाते हैं। उस समय आंखों में पूरी दुनिया को भुलादे ऐसा नया चमत्कार दिखने लगता है। हृदय उसे मिलने के लिए अधीर हो उठता है तब उस भाई साहब के नेत्र में सूक्ष्म से सूक्ष्म संकेत देखने जैसे हो हो जाते हैं और उसके हाथ के इशारे तो दूसरे मनुष्य सहसा न समझे वैसे हो जाते हैं। अनेक प्रसंगों को लेकर मन में जितने अध्यवसाय होते हैं। कर्म के प्रदेश भी उतने ही बंधते हैं।

परिच्छेद अर्थात् अंश जिसका केवलज्ञानी की प्रज्ञा से भी विभाग नहीं होता, इसलिए उसको अविभाग कहते हैं।

भगवान ने फरमाया कि-आत्मा के अनंतज्ञान प्रदेशों को आवृत करने वाले ज्ञानावरणीय कर्म के अविभाग परिच्छेद भी अनंत हैं।

शक्तिसंपन्न सूर्य की किरणें स्वतः प्रकाशमान होनेपर भी उसके ऊपर जब बादल छा जाते हैं और वे जितने अंश में किरणों को आवृत करते हैं उतनी मात्रा में किरणें प्रकाश नहीं दे सकती है किसी समय बादल घन-घोर छा जाते हैं तब दिन भी रात के समान हो जाता है। यह बात ध्यान में रखने की है कि बादल चाहे जितने जोरदार होंगे तो भी सूर्य की किरणें सर्वथा अप्रकाशमान नहीं होतीं और जैसे-जैसे हवा के जोर से बादल हटते जाते हैं वैसे वैसे किरणें भी उतने अंश में प्रकाश देती जाती हैं।

इसप्रकार सूर्य की किरण के समान आत्मा के असंख्यात प्रदेशपर ज्ञानावरणीयादि कर्म के बादल प्रवाह के रूप में अनादिकाल से हैं जिससे अनंत शक्ति की आत्मा अप्रकाशमान जैसी अवस्था भोग रही है।

सम्यग्ज्ञानरूपी हवा जब जोरदार बनती है तब कर्मरूपी बादल भी धीरे-धीरे हटते जाते हैं और आत्मा स्वयं के मूल स्वरूप में आती जाती है। इस सूत्र में प्रश्न तथा उत्तर इतने ही हैं कि ज्ञानावरणीय कर्म के अविभाग परिच्छेद अनंत होते हैं। केवलज्ञानी को छोड़कर जीवमात्र का एक एक प्रदेश अनंत अविभाग परिच्छेद द्वारा व्याप्त होता है।

ध्यान में रखें तो जैन शासन का स्याद्वाद सर्वत्र शांति और समाधि का सर्जक बनकर संसार को नंदनवन जैसा बनाने में पूर्ण समर्थ है।

॥ ग्यारहवां उद्देशक समाप्त ॥

टीकाकार कहते हैं कि हृदय की भक्तिरूपी आहूति द्वारा जिसका तेज बढ़ा है ऐसे पार्श्वनाथ भगवान की कृपादृष्टि रूपी अग्नि और उस प्रभु का नाम अक्षररूपी मंत्र की विधी द्वारा विघ्नरूपी ईंधन को जलाकर राख कर दिये हैं। अतः संपन्न हुआ है पवित्र शांति कर्म जिसका ऐसे मैं (अभयदेवसूरी) शिल्पी द्वारा जैसे अच्छा मकान बनकर तैयार होता है वैसा भगवती सूत्र का आठवां शतक भी मैंने पूर्ण किया है।

शास्त्रविशारद, जैनाचार्य, नवयुग प्रवर्तक स्व. श्री विजयधर्म सूरीश्वरजी महाराज सा. के शिष्य रत्न शासन दीपक स्व. श्री मुनिराज श्री. विद्याविजयजी महाराज के शिष्य न्या. न्या, काव्यतीर्थ, पन्यासपद विभूषित श्री पूर्णानंदविजय (कुमारश्रमण) ने ज्ञान संपन्न भगवतीसूत्र के आठवे शतक के ग्यारह उद्देशक सांताक्रुज उपाश्रय में पूर्ण किये हैं।

॥ शुभं भूयात् सर्वेषां प्राणिनाम् ॥

सर्वे जीवाः जैन तत्त्वं प्राप्नुयुः ॥

❖

शतक नववां उद्देशक-२

यह उद्देशक राजगृही में वर्णित हुआ है। गौतमस्वामी के पूछने से भगवान ने कहा कि हे गौतम! जम्बूद्वीप में भूतकाल और भविष्यकाल में दो चन्द्र तथा दो सूर्य होंगे। अर्थात् भूतकाल में जो परिस्थिति थी वह वर्तमानकाल में भी है और भविष्यकाल में भी दो सूर्य और दो चन्द्र जम्बूद्वीप को प्रकाशित करेंगे। तारागण की संख्या एक लाख तेंतीस हजार नौ सौ पचास (१,३३,९५०) कोड़ाकोड़ी है।

लवण समुद्र में चार चन्द्र तथा चार सूर्य हैं, ११२ नक्षत्र, ३५२ ग्रह और २६७९०० कोड़ाकोड़ी ताराओं की संख्या तीनों काल में थी हैं और रहेगी।

धातकी खंड में १२ सूर्य और १२ चन्द्र, ३३६ नक्षत्र, १०५६ ग्रह तथा ८०३,७०० कोड़ाकोड़ी तारा है।

कालोदधि समुद्र में ४२ चन्द्र और सूर्य, ३६९६ ग्रह, ११७६ नक्षत्र और २८,१२९५० कोड़ाकोड़ी तारे हैं।

पुष्कर द्वीप में १४४ सूर्य और १४४ चन्द्र हैं, १२६७ ग्रह, ८०३२ नक्षत्र और ९६, ४४, ३०० कोड़ाकोड़ी तारे हैं।

आभ्यन्तर पुष्करार्द्ध में इससे आधे करने। इस प्रकार अढ़ाईद्वीप में १३२ चंद्र और १३२ सूर्य हैं तीनों काल में रहेंगे। पुष्करोद समुद्र में तीनों काल में संख्यात चंद्र और सूर्य हैं। स्वयंभूरमण समुद्र तक में असंख्यात चंद्र और सूर्य प्रकाशित थे, हैं और होंगे।

॥ दूसरा उद्देशक समाप्त ॥

गौतमस्वामी ने पूछा कि ऐसा भाव कैसे प्राप्त होता है? उसका मूल कारण क्या?

(२) बोधिलाभ—अनादि अनंत संसार में चक्रवर्ती पद और इन्द्रपद भी उत्कृष्ट पुण्य के जोर से प्राप्त कर सकते हैं परन्तु बोधि (सम्यक्त्व) लाभ के लिए पुण्यबल काम नहीं आता पर आत्मा की सोई निष्क्रियी पुरुषार्थ शक्ति ही काम में आती है क्योंकि संख्याता या असंख्याता भवों में उपार्जित की हुई तथा अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व के जोर के कारण बढ़ाई हुई अनंतानुबंधी कषाय की मोहमाया को भगाने के लिये अनंतानुबंधी कर्म के कारण से कषाय हुई भवों में उपार्जित की हुई तथा अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्वमोह कर्म के कारण से बढ़ाई हुई अनंतानुबंधी कषाय की मोहमाया को भगाने के लिए आत्मा का अभिक्रम करण ही मुख्य कारण रूप से है।

पुरुषार्थी बनी हुई आत्मा अनंतानुबंधी कषायों की माया के साथ जब जबरदस्त रण मैदान खेलती है और काली नागिन करते भी भयंकर इस माया नागिन को दबा देती है तब उस माया की शक्ति अधिकांश रूप में क्षीण होनेपर एक कोड़ाकोड़ी जितने कर्म शेष रहते हैं और ६९ कोड़ाकोड़ी सागरोपम जितने भयंकर कर्म लगभग क्षय होते हैं अथवा शक्तिहीन बनते हैं। उस समय आत्मा को ज्ञान का प्रकाश मिलता है जो अभूतपूर्व होता है। ऐसा प्रकाश प्राप्त की हुई आत्मा ही बोधी लाभ का मालिक बनती है।

अनंतानुबंधी कषाय को दबाये बिना मोहराजा का तथा उसके सैनिकों का जोर किसी समय भी कम नहीं पड़ता है। अतः मोहराजा की मार खाकर मुर्दा बनी हुई आत्मा भी लगभग मुर्दे के समान ही होती है।

सम्यक्त्व के लिए कषाय का दमन ही मुख्य और अजोड़ कारण है।

(५) स्वाध्याय, तप और त्याग का पोषण करेगा तब सम्यग्दर्शन शुद्ध होते ही मतिज्ञान भी विकसित होगा और श्रुतज्ञान भी पवित्र बनेगा। सम्यग्ज्ञान तथा श्रुतज्ञान की शुद्धता ही सम्यग्दर्शन में स्थैर्य लानेवाली बनेगी। इसप्रकार इन दोनों ज्ञान की प्राप्ति में और आत्म प्रत्यक्ष अवधिज्ञान, मनः पर्यवज्ञान और केवलज्ञान प्राप्त होने में भी मूल कारण क्या है ?

अब इस प्रश्न का आशय समझ ले।

हे प्रभु ! कोई जीव केवली, केवली श्रावक, श्राविका, उपासक, उपासिका, स्वयंबुद्ध की देशना सुने बिना ही तीर्थंकर प्रणीत धर्म, बोधिलाभ, अनगारत्व, ब्रह्मचर्यादि धर्म की प्राप्ति कर सकेगे ? भगवान ने कहा कि–हे गौतम ! कोई एक जीव सुने बिना भी धर्म को प्राप्त कर सकता है और कोई एक सुननेपर भी धर्म का लाभ ले नहीं सकता कारण बतलाते हुए भगवान ने कहा कि–हे गौतम ! जिस भाग्यशाली का ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो गया होगा उसको केवली भगवंत आदि के पास से धर्मोपदेश सुने बिना भी तीर्थंकर प्रज्ञप्त धम का लाभ होगा और जिसने इन कर्म का क्षयोपशम नहीं किया होगा उसको धर्म का लाभ नहीं होता है।

सारांश यह कि जैन धर्म की प्राप्ति का मूल कारण ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है तथा जिन भाग्यशाली को केवली आदि के पास से धर्मोपदेश सुनने का अवसर आनेपर धर्म की प्राप्ति होती है उसमें भी तीर्थंकर की वाणी निमित्त कारण होती है और क्षयोपशम रूप स्वयं की आत्मा उपदान कारण रूप मुख्य होती है।

इस सूत्र में 'ज्ञानावरणीय कर्मणां' जो बहुवचन है, उससे अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा रूप, मति ज्ञान, श्रुतज्ञान और मनः पर्यवज्ञानावरणीय का क्षयोपशम ही अपेक्षित है कारण कि, ये चारों ज्ञानावरणीय देशघाति

ग्ज्ञान की आराधना से सम्यक्चारित्र की मर्यादा में रहा हुआ साधक कर्मों के उदय के समय स्वयं के अध्यवसायों को बिगड़ने नहीं देगा। शुद्ध तथा पवित्र लेश्याओं से पतित नहीं होगा और स्वाध्याय बल के जोर से उदय में आये हुए कर्मों को अवश्य क्षय करेगा। भाविकाल में आनेवाले सत्तास्थानीय कर्मों के उदय को सत्प्रवृत्ति और सद्वृत्ति के द्वारा उपशम करेगा। अर्थात् कर्मों को उदय में आने का अवसर नहीं देगा। जैसे कि सम्यग्ज्ञान की वृद्धि के लिए जागृत साधक प्रतिक्षण वांचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, लक्षण और धर्म कथा आदि पांच प्रकार के स्वाध्याय में पूर्ण मस्त रहकर उदित ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करेगा और पढ़ने में पूर्ण एकाग्र चित्त बनकर उदय में आनेवाले कर्मों का उपशम करेगा। ज्ञानावरणीय कर्मों के भारी जीव का, आलसी तथा प्रमादी जीव का, मजाकी मित्रों का, तथा उनके सहवास का सर्वथा विच्छेद करके उदय में आनेवाले ज्ञानावरणीय कर्म का अवरोध करने के लिए भाग्यशाली बनेगा। यहां तक कि स्वयं के शत्रु की भी आंख, कान आदि इंद्रियों का अहित करने का विचार त्यागकर दर्शनावरणीय कर्म के द्वार बन्दकर, उदित दर्शनावरणीय का क्षय करेगा तथा उदय में आनेवाले कर्म का उपशम करेगा। इस प्रकार मोक्ष की ओर अग्रेसर होनेवाले पुरुषार्थी जीव कर्मों के क्षयोपशम द्वारा जैनधर्म के श्रवण का लाभ लेगा।

बोधिलाभ की प्राप्ति के मूलकारण को दर्शाते हुए भगवान ने कहा कि, दर्शन मोहनीय कर्म का क्षयोपशम ही बोधिलाभ प्राप्त करा सकता है जिसकी प्राप्ति होने के बाद चैतन्य स्वरूप आत्मा की पहचान होती है।

खान में से निकले हुए पत्थर को केवल परीक्षक ही जान सकते हैं कि यह हीरा है। तदन्तर उस पत्थर को काटकर उसको तीव्र शस्त्र के द्वारा छेदते-भेदते हुए चमकदार बनाते हैं तब वह हीरा राजा महाराजा

उनकी इंद्रियां अशिक्षित होने से नष्ट होती है। मन उनका मूढ़ होता है, हाथ पैर अशक्त होते हैं और जम्हाई लेकर पूरा दिन व्यतीत करते हैं। आंख खोलते हैं पर मानो संसार में कुछ करने जैसा है ही नहीं इस प्रकार जीते हैं, देव समान जीवन मिला है परन्तु उनको नींद ही प्यारी होती है। अमृत के समान जीवन है तो भी वे आलस्य तथा तथा प्रमाद के पुजारी होते हैं। इस प्रकार की आत्मा तीन प्रकार की होती है:—

(१) बीमार दिल (२) मुर्दा दिल और (३) उल्टा दिल

(१) बीमार दिल :

जिसकी आत्मा (दिल) बीमार होती है। इस बीमार दिल के लोग छत या बाजार की पेढ़ीपर बैठकर, धर्म, समाज, राष्ट्र, देश और साधु साध्वी को पढ़ाने के लिए बड़ी-२ बाते जरूर करते है। परंतु स्वयं की जेब में से कुछ धन निकालना हो या समय का भोग देना पड़े तब सब से पहले ही भागने लग जायेगें अर्थात् ऐसे गायब हो जायेंगे कि उनको कितना ही खोजो पर नहीं मिलेंगे। ऐसे जीव चाहे जहांपर बैठकर समाज की अच्छी से अच्छी योजना को धूल में मिलाने का उपाय भी खोज लेंगे। अतः ऐसे जीव बीमार दिल के होने से समाज तथा देश के लिए भार रूप होते हैं।

(२) मुर्दा दिल :

उनकी आत्मा हमेशा मुर्दे के समान होती है जिससे स्वयं के अर्थ तथा काम के सिवाय दूसरे किसी काम में रस नहीं लेते हैं। परमात्मा की कृपा से धन मिलने पर भी उसका उपयोग समाज में छल–प्रपंच, सातो व्यसनों जुआं तथा फैशन के लिए होता है। इस प्रकार के जीव मुर्दा दिल के कहलाते हैं।

चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से आत्मा [illegible] [illegible] करता है जिससे संयम के द्वारा निर्जरा प्राप्त करने की शक्ति बनती है।

द्रव्याश्रव और भावाश्रव ये दो ही आस्रव के प्रकार के हैं। जिन क्रिया के द्वारा कर्मों का आगमन हो वह द्रव्याश्रव है और मानसिक अध्यवसाय जो आस्रव करते हैं। इन आस्रवों का निरोध शुभ अध्यवसाय का संवर द्वारा ही प्राप्त होता है और उस संवर के मूल में अध्यवसायावरणीय कर्म अर्थात भावाश्रव का क्षयोपशम ही रहा हुआ है। यह निश्चित है।

मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मतिज्ञान।

श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से श्रुतज्ञान।

अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान।

मनः पर्यवज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मनः पर्यवज्ञान।

केवलज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से केवलज्ञान की प्राप्ति।

उपरोक्त ग्यारह सूत्रों का सारांश यह है कि केवली आदि के पास से धर्म सुने बिना भी जीवात्मा, ज्ञानावरणीय, दर्शनमोहनीय, चारित्र-मोहनीय, वेदमोहनीय, यतनावरणीय, अध्यवसायावरणीय और मतिज्ञाना-वरणीय आदि के क्षयोपशम से जिनप्रज्ञप्तधर्म, बोधिलाभ, साधुता, ब्रह्मचर्य धर्म आदि प्राप्त कर सकता है और जिसने क्षयोपशम नहीं किया हो वह भी केवली आदि के पास से धर्म सुनकर जान सकता है। इतना विशेष और जान लेना कि केवली आदि के पास से जीव भले ही सुनकर

वहां ही जन्म तथा मरण अनिवार्य है। अतः स्थावर के जीव फिर से वहां ही उत्पन्न होते हैं।

[२] विषय-वासना, आरंभ-समारंभ और वैर-विरोध में जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्यों को भी प्रायः स्थावर योनि में ही उत्पन्न होना पड़ता है।

[३] देवगति के जीव अत्यन्त आसक्तिपूर्वक विषयवासना में लीन बनते हैं तब उनके भाग्य में भी स्थावर योनी ही लिखी होती है।

[४] धर्म, कर्म, विवेक के बिना तिर्यंचों के लिए स्थावर में जन्म लेना कठिन नहीं है।

इन कारणों को लेकर स्थावर में जन्म लेनेवाले अधिक होने से उनकी उत्पत्ति निरंतर कही है। जबकि दूसरे सभी जीव अर्थात् स्थावर में जन्म नहीं लेनेवाला सांतर और निरन्तर भी होते हैं। इसी प्रकार उद्वर्तना के लिए भी समझना। वर्तमान में जिस योनी में जीव विद्यमान हो तथा आयुष्य पूर्ण होनेपर निकलना उसको उद्वर्तना कहते हैं। भगवान महावीर स्वामी ने कहा कि स्थावर जीवों की उद्वर्तना निरंतर ही होती है जबकि दूसरे जीव सांतर और निरंतर होते हैं।

जीवों के प्रवेशनक :

पार्श्वनाथ भगवान के शिष्य गांगेय मुनि ने भगवान से पूछा कि हे प्रभु ! जीवों के प्रवेशक कितने प्रकार के होते है ?

वर्तमान में जो पर्याय ग्रहण किये हो वहां से निकलकर जीव जिस दूसरी गति में जाते है उसको प्रवेशनक कहते है। चराचर संसार और उसके अनंत पर्यायों को स्वयं के केवलज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष देखनेवाले यथार्थवादी भगवान ने कहा कि :–हे गांगेय ! प्रवेशनक चार प्रकार के होते है।

७ भांगा असंयोगी
४२ भांगा द्विकसंयोगी
३५ भांगा त्रिकसंयोगी
८४ भांगे पूर्ण हुए।

इस प्रकार चार नैरयिक प्रवेशनक में सभी भांगे उपरोक्त प्रकार से जानने।

सभी भांगे निम्न हैं—

एक नैरयिकप्रवेशनक			भांगा	७
दो	,,	,,	,,	२८
तीन	,,	,,	,,	८४
चार	,,	,,	,,	२१०
पांच	,,	,,	,,	४६२
छः	,,	,,	,,	९२४
सात	,,	,,	,,	१७२६
आठ	,,	,,	,,	३००३
नव	,,	,,	,,	५००५
दस	,,	,,	,,	८२२८
संख्यात नैरयिक प्रवेशनक			,,	३३३७
असंख्यात नैरयिक प्रवेशनक			,,	३६५८
उत्कृष्ट जीव के			,,	६४

सातों नरक के प्रवेशनक का अल्प बहुत्व निम्न है—

सातवीं नर्क के प्रवेशनक सब से कम है क्योंकि सातवीं में जाने वाले जीव दूसरी भूमि करते कम होते हैं। इस करते छट्ठी नर्क भूमि में जानेवाले असंख्यात गुणे हैं। क्योंकि इसमें जानेवाले जीव सातवीं करते भी अधिक होते हैं। पांचवीं नर्क में जानेवाले असंख्यात गुणे अधिक हैं;

उससे असंख्यात गुणा अधिक और ज्योतिष्क देव सबसे अधिक है।

चारों गति में से मनुष्य सबसे कम।

नैरयिक असंख्यात गुणा अधिक।

देवयोनिक जीव उससे भी असंख्यात गुणा अधिक और तिर्यंचयोनिक जीव सबसे अधिक है।

गांगेय मुनि पूछते हैं कि–हे प्रभो ! जो सत् अर्थात् द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से जो विद्यमान है ऐसे नारक नरक में उत्पन्न होते हैं ? या द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अविद्यमान जीव नर्क में उत्पन्न होते है ?

भगवान ने कहा कि–हे गांगेय ! द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से विद्यमान नारक ही नर्क में उत्पन्न होते है अविद्यमान नहीं होते है।

पर्याय उत्पन्न होते रहते है, द्रव्य उत्पन्न नहीं होता है जिससे जो पदार्थ स्वयं के मूलरूप में अविद्यमान हो वह वन्ध्या स्त्री के पुत्र की तरह कैसे उत्पन्न होगा ? अतः अविद्यमान वस्तु का उत्पाद नहीं हैं। सारांश यह है कि इसमें जीव द्रव्य की अपेक्षा से और नारक पर्याय की अपेक्षा से सत्ता कही हैं।

कोई जीव मरकर नारक पर्याय से नर्क में उत्पन्न होनेवाला हो तब ऐसे जीव को भावी नारक पर्याय की अपेक्षा से द्रव्य नारक कहने में आता है। वही द्रव्य नारक हुए जीव ही नारक पर्याय में उत्पन्न होते है अर्थात् नर्कगति नामकर्म, नरकानुपूर्वी और नरकायुष्य का उदय एक साथ ही होता है अतः उस समय नरकायुष्य का उदय होने से भावनारक बना हुआ जीव नर्क में नरकपर्याय के रूप मे उत्पन्न होता हैं।

इसी पद्धति से असुरकुमारो से लेकर वैमानिक देव तक जान लेना अर्थात् द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से विद्यमान असुरकुमारादि जीव ही असुरकुमारादि पर्याय मे उत्पन्न होते हैं। अविद्यमान असुरकुमारादि जीव

भगवान ने कहा कि-हे आयुष्यमान ! गांगेय गधे के सींग के समान, आकाश के फूल के समान, वांझ के पुत्र के समान तथा मृगजल के पानी के समान यह लोक नहीं है क्योंकि तेंतीस करोड़ देवता परिश्रम करके थक जाय तो भी असद्भूत पदार्थ को सत् कर नहीं सकते हैं। गधे के सींग का सर्वथा अभाव है इससे जो सर्वथा असत् है वह तीन काल में भी असत् ही रहेगा। परन्तु यह लोक ऐसा नहीं है पर तीनो काल में सत् तथा शाश्वत् है। यह बात मैं जैसी कह रहा हूँ वैसी ही पुरुषादानीय तेईसवें भगवान श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर भी कह चुके हैं अतः नर्क गति किसी काल में भी जीव बिना की नहीं थी, नहीं है, और नहीं रहेगी।

एकेंद्रिय जीव बिना की एकेंद्रिय योनी किसी भी काल में खाली हुई नहीं थी, वर्तमान में नहीं तथा भूतकाल में होगी नहीं। वैसे ही अनंतानंत जीव किसी काल में भी असंख्यात या संख्यात होनेवाले नहीं है अर्थात् तीनों काल में अनंतानंत ही रहनेवाले है क्योंकि लोक हमेशा शाश्वत और सत् हैं।

इस प्रकार महावीर प्रभु ने पार्श्वनाथ तीर्थंकर के सिद्धांतो से ही गांगेय की शंका का समाधान किया है। क्योंकि तीर्थंकरों की देशना सर्वथा एक ही होती हैं। कहा है कि :—

रागाद् द्वेषात् तथा मोहात् भवेद्वितथवादिता।
तदभावे कथं नामाऽर्हतां वितथवादिता ॥
ये तु रागादि भि र्दोषैः कलुषीकृत चेतसः।
न तेषां सुनृतावाचः प्रसरस्ति कदाचन ॥

तीर्थंकर रागद्वेष तथा मोहरहित होने से उसकी एक वाक्यता अखंड रहती हैं

संख्यातीत वर्षों के पहले के तीर्थंकर ने जो आर्थिक देशना दी है वही बात शब्दांतर में भी दूसरे तीर्थंकर कहते हैं।

हे देवानुप्रिये! ग्रामानुग्राम विहार करते हुए समस्त संसार को प्रतिबोधित करते हुए भगवान महावीर स्वामी बहुशालक चैत्य में पधारे हैं। जो चौंतीस, पैंतीसों और आठ प्रातिहार्यों से सुशोभित हैं।

अतः इसप्रकार के अरिहंत का नाम तथा गोत्र जो सुनने में आये तो महान फल मिलता है। अत्यन्त श्रद्धापूर्वक अरिहंत के सामने जाना, पंचांग प्रणिपातपूर्वक वंदन करना तथा अपनी शंकाओं के निवारण के लिए प्रश्न पूछने, उनकी सेवा (वैयावच्च) में रहना, यह अति महान फल देनेवाला होता है। एक जैन वचन के श्रवण से अच्छा फल मिलता है तो विपुल अर्थ का ग्रहण करना, महाफल अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति करावे, उसमें क्या आश्चर्य? अतः हे देवानुप्रिये! अपन वहां चलें और भगवान को वंदन, नमन तथा पर्युपासना करें। क्योंकि अरिहंत की वैयावच्च दोनों भव के लिए सुखरूप, हितरूप और शुभकर्म के अनुबंध के लिए होती है। इस प्रकार स्वयं के पति के मुख से यह बात सुनकर देवानंदा ब्राह्मणी बहुत ही खुश हुई। उसके रोम रोम विकसित हुए और मस्तक झुकाकर, हाथ जोड़कर स्वयं के पति की बात को स्वीकार किया।

ऋषभदत्त ब्राह्मण स्वयं के कुटुम्बीजन को बुलाकर भी यही कहता है कि हे देवानुप्रियों! तुम शीघ्र से शीघ्र चलनेवाला प्रशस्त, एक रंग के समान खरी पुच्छवाले, समान सिंगवाले, आभूषणों से युक्त, चलने में उत्तम चांदी की घन्टियों से सुशोभित और सोने की नथ से बंधे हुए बैल से युक्त रथ को तैयार करो जो सभी प्रकार से सुन्दर, उत्तम और धर्म स्थान के योग्य हो।

यह सुनकर ऋषभदत्त के सेवकों ने खुश होकर रथ को तैयार किया

हुआ तब भगवान को वंदन तथा नमन करके गौतम ने भगवान से पूछा कि हे प्रभो ! यह क्या लीला है !

भगवान ने कहा कि हे गौतम ! देवानंदा मेरी माता है मैं उसका पुत्र हूँ। अतः मुझे देखकर उसका हर्ष समा नहीं रहा है। फिर वहीं पर्षदा में भगवान ने धर्म कहा। सभा खुश हुई तथा अपने-२ घर गई।

खुश हुए ऋषभदत्त में भगवान को तीन प्रदक्षिणा दी तथा स्कंद तापस की तरह अलंकार का त्याग किया और भगवान को कहा कि—

"हे प्रभु ! संसार असार ही है जहां क्रोध, कषाय की आग तथा विषय वासना की ज्वालाएं चारों तरफ से प्राणियों को जला रही है।" अतः हे प्रभो ! मैं संयम लेने को चाहता हूँ यह सुनकर भगवान ने दीक्षा दी

इसके बाद देवानंदा ब्राह्मणी भी आर्या चन्दनबाला के पास दीक्षा ली, मुंडित हुई तथा ग्यारह अंगो का अभ्यासकर अनेक प्रकार से तपश्चर्या करके सर्व कर्मो का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया तथा मोक्षपद की अधिकारिणी बनी।

जमाली का चरित्र :

इसी समय ब्राह्मण कुंड नगर के पश्चिम दिशा में क्षत्रियकुंड नामका नगर था ! उसमें जमाली नाम का राजकुंवर रहता था। वह धनधान्य से परिपूर्ण, तेजस्वी, विपुल विस्तृत भवनवाला, सुन्दर शयन और वाहनो का स्वामी था। स्वयं के महल में बत्तीस प्रकार का नाटक देखता तथा उसमे भाग लेकर बहुत ही प्रसन्न होता था। प्रत्येक ऋतु के योग्य साधनों का भोक्ता तथा पांचो इंद्रियों के २३ विषयों में पूर्ण मस्त रहता था।

एक दिन शृंगारक (शिगोड़ा के आकार जैसा रस्ता) त्रिक (तीन रास्ते का जहां मिलन हो) चत्वर (चौक) चतुष्क (चार रस्ते मिलते हो) वहां इकट्ठा हुआ

गणक—ज्योतिष महाराज

दौवारिक–द्वारपाल।

अमात्य–राज्य के अधिष्ठायक।

चेट—चरण सेवक।

उपरोक्त सभी तीर्थियों के साथ जमाली रथपर आरूढ़ होकर भगवान महावीर स्वामी को वंदन करने के लिए चला। वहां जाकर तीन प्रदक्षिणा देकर भगवान के सामने बैठा।

मधुर ध्वनि में धर्मोपदेश देते हुए भगवान ने कहा कि, "हे भाग्य-शालियों! जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष शाश्वत है।"

इस प्रकार तत्वों की विशद व्याख्या के रूप में देशना सुनकर अधिक प्रसन्न हुई पर्षदा विसर्जित हुई और अपने-२ स्थान पर गई।

प्रसन्न हुए जमाली राजकुमार ने भगवान को तीन प्रदक्षिणापूर्वक कहा कि, हे प्रभु! आपके प्रवचन के प्रति मुझे श्रद्धा उत्पन्न हुई है। प्रवचन की सत्यता सर्वथा अकाट्य है। हे नाथ! मेरी इच्छा आपके पास प्रव्रज्या धर्म स्वीकार करने की है। अतः मुझे दीक्षा प्रदानकर अनुग्रहित करें।

भगवान ने कहा कि, "हे देवानुप्रिय! तुम्हें जैसा रुचे वैसा करो। ऐसे पवित्र मार्ग में विलंब नहीं करना चाहिये।"

फिर जमाली समवसरण से बाहर आकर रथ में बैठकर घर आया तथा माता-पिता के पास जाकर कहता है कि—"हे अंब! आज मैंने भगवान महावीर स्वामी के धर्म का श्रवण किया। जो मुझे बहुत ही पसंद आया जिससे वह धर्म मुझे इष्ट होने से रुचिकर लगा है तथा मैं दीक्षा अंगीकार कर जीवन में उतारना चाहता हूँ।

माता पिता ने कहा कि—हे बेटा! तुझे धन्य है तथा तूने बहुत ही अच्छा कार्य किया है। महान से महान पुण्य उपार्जन किया है।

अश्रुपूर्ण हृदय से माता-पिता ने जमाली को दीक्षा की अनुमति दी।

फिर जमाली के पिता ने स्वयं के आज्ञाकारी सेवकों को बुलाकर कहा कि—तुम शीघ्रता से क्षत्रियकुण्ड नगर को बाहर तथा अंदर से स्वच्छ करो तथा ध्वजाएँ बंधाओ। प्रव्रज्या अभिषेक की सामग्री भी इकट्ठी करो। इस सूचनाओ का पालन सेवकों ने किया। स्नान से निवृत होकर जमाली ने सभी प्रकार के शृंगारधारण किये, मूल्यवान वस्त्रपहने तथा रजोहरण और पात्र मंगाने के लिए अपने पिता को कहा। नाई ने जमाली का मुंडन किया और बालो को जमाली की माता को दिये फिर उत्तर दिशा में बैठाकर जमाली को स्नान कराया और बड़ी ही शालीनता से जमाली का दीक्षा का वरघोड़ा ब्राह्मणकुण्ड नगर तरफ रवाना हुआ।

जमाली को आगे करके उसके माता-पिता भगवान महावीर के पास आये और वंदन आदि करके इस प्रकार कहा कि हे भगवंत! यह जमाली हमारा एकमात्र पुत्र है जो हमें बहुत ही प्यारा है तो भी संसार से भय पा कर आपके पास दीक्षा लेने तैयार हुआ है।

भगवान ने कहा कि 'हे देवानुप्रिय तुमको जैसा अच्छा लगे वैसा करो पर ऐसे शुभकार्य में विलंब नहीं करना चाहिए। भगवान के शब्द सुनकर जमाली बहुत ही हर्षित हुआ। तीन प्रदक्षिणा देकर वंदन और नमन किया। ईशान कोन में जाकर स्वयं के हाथ से वस्त्रालंकार उतारे और माता ने लेकर कहा कि हे बेटा! संयम के योगरूप अर्थ में प्रयत्नशील रहना अप्राप्त संयमयोग की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना। सावधानी पूर्वक संयम की आराधना करना तथा एक क्षण भी प्रमाद न करना। तत्पश्चात जमालीमुनि को तथा भगवान को वंदन करके घर गये। फिर जमालीमुनि ने भी ग्यारह अंगो का अध्ययन किया

(उपरोक्त जमाली का चरित्र भगवतीसूत्र के कुछ पृष्ठ से संक्षेप में लिखा है।)

(६) छद्मस्थ न समझ सके तो उसमें तीर्थंकर की भूल नहीं है।
(७) मैं स्वयं छद्मस्थ हूँ तीर्थंकर नहीं।

इस प्रकार रोम रोम में श्रद्धा रखनेवाला जमाली मुनि का भी दबा हुआ मिथ्यात्व कर्म जब जोरदार उदय में आया तब श्रद्धा से बिलकुल डगमगा गया और महावीरस्वामी के तत्वों को भी झूठ मानने लगा।

जमाली मुनि के संयम और तपस्या में ज्ञानबल का मिश्रण जैसा चाहिए वैसा नहीं होने के कारण ही उपशम कीया हुआ मिथ्यात्व अत्यन्त शक्तिवान बनकर जब उदय में आया तब उसको फिर से उपशम करने की शक्ति समाप्त होने के कारण छिद्रान्वेषी चोर की तरह दर्शनमोहनीय का तीव्र विपाकोदय स्वयं का जोर बता सका और उत्थान पाये हुए जमाली मुनि की आत्मा आंख के पलकारे के समय में ही पतन के गहरे गर्त में जा पड़ी।

दुर्भेद्य कर्म की जबरदस्त ताकत होने के कारण मुहपत्ति की प्रतिलेखना के समय 'सम्यकत्व मोहनीय परिहरु' यह बोल जरुर बोला जाता है।

प्रश्न यह है कि सम्यकत्व को किसलिए परिहरुं कहा? जवाब में यह हो सकता है कि आत्मा के लिए किराये स्वरुप क्षायोपशमिक सम्यकत्व जब जमाली की तरह उदय में आवे और साधक के पास उपशम की शक्ति न हो तो आत्मा के लिए खतरा हो सकता है।" अतः प्रत्येक साधक सावधानी रखे और स्वयं के मूल खजाने जैसा क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने के भाव रखे तो वह आत्मा खतरे में से बच सकेगी।

अब हम आगे बढ़े और जमाली का विचार करे। पुरुषार्थ योग जैसे पूर्ण शक्त है, वैसे ही भवितव्यता नाम का योग भी स्वयं की मर्यादा में पूर्ण शक्तिवान है। इसी कारण एक दिन जमाली मुनि ने भगवान महावीर स्वामी को वंदन और नमन करके यह कहा कि हे प्रभु! मैं मेरे पांच सौ शिष्यों के साथ अलग विहार करना चाहता हूँ अतः मुझे अनुमति दीजिए

जब जमाली मुनि ने यह प्रश्न पूछा तब शिष्यों ने कहा कि—हे गुरु हम आपकी आज्ञा के अनुसार बिस्तर बिछा रहे हैं पर बिछाया नहीं है। अत्यन्त सरल स्वभाव से कहे हुए शिष्यों के वचन को सुनते ही जमाली मुनि को अब उपशम किया हुआ मिथ्यात्व मोहकर्म उदय में आया और आत्मगत, चिंतित, प्रार्थित, कल्पित और मनोगत निम्न विचार आये—

आत्मगत—बुखार के जोरदार प्रभाव के कारण जीभ जैसे कड़वी हो जाती है वैसे मिथ्यात्व के तीव्र उदय से जमाली को भी भगवान महावीर के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हुई और उनके वचनों की विरोध भावना के अंकुर की उत्पत्ति होने लगी।

चिंतित—अंकुरे में से जैसे जैसे पत्ते निकले वैसे जमाली मुनि के हृदय में भी अश्रद्धा बढ़ती गई तथा साथ साथ विरोध भी बढ़ता गया।

प्रार्थित—विकसित लता जैसे पल्लवित होती है वैसे जमाली का चिंतित विचार बढ़ता ही गया जिससे उसके मन में महावीर के वचन बिल्कुल अश्रद्धेय हैं, ऐसी भावना बढ़ी। फिर तो महावीर मुझे इष्ट नहीं है ऐसे विचार उत्पन्न हो गये।

जमाली मुनि भूत और वर्तमान रूप कृत और क्रियमाण में भेद मानकर, उन दोनों में अभेद का प्रतिपादन करनेवाले भगवान के वचन को मिथ्या और असत्य माननेवाले हुए हैं। कारण देते हुए कहते हैं कि बिछाने में आ रहा संथारा बिछाया नहीं है। "अतः संस्तीर्यमाण संथारक असंस्तृत है।" जिससे क्रियमाण वस्त्र संस्तारक जैसे अकृत होता है वैसे संस्तीर्यमाण संस्तारक असंस्तृत ही रहता है। इसी प्रकार चलायमान वस्तु अचलित, उदीर्यमाण अनुदीर्ण, वेद्यमान अवेदित, प्रहीयमाण अप्रहीण छिद्यमान अछिन्न, भिद्यमान अभिन्न, दह्यमान अदग्ध म्रियमाण अमृत और निर्जीर्यमान वस्तु अजीर्ण ही होती है।

संनिपात के रोग में अच्छा से अच्छा भोजन भी अजीर्ण होकर वमन

आदि वस्तु में भी 'करण रूप' क्रिया करने में आये तो करण क्रिया का कभी अंत नहीं आयेगा।

दूसरी बात यह है कि करणरूप क्रिया अकृत में होती है कृत में नहीं होती तथा अविद्यमान वस्तु किसी क्रियाद्वाराही विद्यमान बनती है। जैसे वर्तमान कालमें मिट्टी में घट विद्यमान नहीं परन्तु किसी क्रियाविशेष से उसमें घट पर्याय उत्पन्न होता दिखता है। जिससे क्रियमाण को कृत कहना यह अत्यन्त विरोधाभास हैं। एक घटना के निर्माण में अधिक क्रियाओं की जरुरत होती हैं। प्रारंभ काल में ही घड़ा बनता नहीं है।उस का निर्माण होनेपर ही दिखता हैं जब क्रिया का अवसान होता है। इन कारणों को लेकर क्रियाकाल में कार्य की विद्यमानता माननी उचित नहीं है।

इस प्रकार जमाली के कथित, प्रतिपादित, प्रज्ञापित और प्ररुपित विचारों को साधुओ ने श्रद्धापूर्वक माना और स्वीकारा है। परंतु जिनको जमाली के वचन रूचे नहीं उन मुनियो ने बहुत ही हिम्मतपूर्वक जमाली को समझाने का प्रयत्न किया वह निम्न हैं।

" जो वस्तु अकृत-अभूत और अविद्यमान होती है वह अभाव विशिष्ट ही होनेसे आकाश पुष्प की तरह उसका निर्माण अशक्य ही होता हैं।"

यदि अकृत-अविद्यमान की उत्पत्ति होती हो तो गधे को सींग की उत्पत्ति भी माननी पड़ेगी जो किसी काल में शक्य नहीं क्योंकि खरविषाण असत् है।

कृत को करने में करणरूप क्रिया कि समाप्ति न हो उसमें जिन दोषोंकी तुमने कल्पना की है वे दोष तो अकृत को करने में ही लागू पड़ते हैं अतः दोषोंकी समानता दोनों तरफ समान हैं।

मूलरूप से ही अविद्यमान वस्तु का निर्माण किसी काल में शक्य नहीं। ऐसा होनेपर भी उसकी निष्पत्ति हो तो असत् को करने में क्रिया की समाप्ति हो सके ऐसा नहीं है अथवा क्रिया का वैफल्य होगा।

उत्तर में बेचारे जमाली का क्या पूछना? सारांश कि गौतमस्वामी के प्रश्नों का जवाब जमाली न दे सका।

"तथापि मानव का ज्ञान अल्प होता है और बुद्धि भी मलिन होती है अथवा मदमान्यता से भ्रष्ट हुआ ज्ञान और विज्ञान शंकित होकर उसके मालिक का भी मारक बनता है।" ग्यारह अंग के ज्ञाता जमाली की भी यही दशा हुई।

दया के सागर भगवान महावीरस्वामी ने कहा कि–हे जमाली! स्वयं की आत्मा को केवलज्ञानी माननेपर भी वास्तविकता को छुपा नहीं सकते हैं।

भगवान ने कहा कि–लोक शाश्वत ही है। अशाश्वत नहीं। पहले लोक न था, अभी है तथा भविष्य में नहीं रहेगा ऐसा नहीं है। क्योंकि शाश्वत वस्तु हमेशा द्रव्यनय की अपेक्षा से शाश्वत होती हैं। अशाश्वत नहीं। इसी प्रकार जीव भी हमेशा है। उसका नाश नहीं है। जबकि पर्याय की दृष्टि से लोक अशाश्वत भी है। कारण यह है कि उत्सर्पिणी अवसर्पिणी के समय लोक में परिवर्तन होता है उसी प्रकार गतियों के कारण से जीव भी अलग–२ प्रकार से संबोधित होता है।

शरीर में बुखार का जबरदस्त प्रभाव हो तब अच्छे से अच्छा घी दूध और पौष्टिक आहार भी कड़वा लगता है उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी बुखार आत्मा के अणु–२ में भर गया हो तब उसे तीर्थंकर की वाणी भी अप्रिय लगती हैं। इसमें तीर्थंकर का दोष नही है क्योंकि सूर्यनारायण की हाजरी को घुवड देख नहीं सकता हैं। जोरदार वर्षा में सभी वनस्पतियें पल्लवीत होती है तो कैर का वृक्ष पत्रविहीन ही रहता है। बेचारे घुवड या कैर के वृक्ष की भवितव्यताही जब ऐसी है तो सूर्य या वर्षा क्या करे? वैसे ही संसार के जीवमात्र को तीर्थंकर की वाणी रोचक लगती है जबकि मिथ्यात्वी और अभव्य को कड़वी लगती है। शुभवीर विजयजी भी कहते हैं "मिच्छ

(४) गणद्रोही— अनेक कुलो के समुदाय रुप गण का द्रोह करने से। आचार्य उपाध्याय की यशगाथा, उनकी विद्वता और तपस्या आदि सद्‌गुणों की निन्दा करना। उनकी प्रसिध्दी होती हो तब उनसे विरोधी व्यवहार करना, हलके पटकने, अवर्णवाद बोलना, अपकीर्ति करना, स्वयं की कल्पित, असत्य और वैर झेर से भरी हुई मान्यताओं को आगे कर कदाग्रहपूर्वक संघ में झगड़ा पैदा करना और मृत्यु के समय आलोचना न करनी ऐसे जीव इस प्रकारकी कनिष्ठ देवयोनि प्राप्त करते हैं।

देवलोक में से च्यवकर चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए चार पांच भव में सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार भगवान महावीर स्वामी के वचनों में श्रद्धा रखते हुए गौतमस्वामी बहुत ही खुश हुए। मुनियों तथा साध्वियों ने भी जमालि का दृष्टान्त सुनकर स्वयं के चरित्र की शुध्दि के लिए सावधान हुए।

॥ ३३ वां उद्देशक समाप्त ॥

भगवान ने कहा कि-हे गौतम ! जिसकी हत्या होती है उसके साथ तो वैर बंधता ही है साथ साथ उसके आश्रित मरनेवाले दूसरे जीवों के साथ भी पाप बंधन होता है।

हे प्रभु ! चलता हुआ वायु एक वृक्ष को नीचे गिराती है तब उस वायु के जीवों को कितनी क्रिया लगती है ? भगवान ने कहा कि कभी तीन, कभी चार, कभी पांच क्रियाएं लगती हैं।

नदी के किनारे मिट्टी द्वारा जिसके मूल ढंके नहीं है ये वृक्ष मूल से लेकर बीज तक अर्थात् मूल, कन्द, स्कन्द, छाल, शाखा, प्रवाल, पात, पुष्प, फल तथा बीज सहित वृक्ष को गिराता वायु पांचो क्रियाओं का मालिक बनता हैं।

॥ चौतीसवां उद्देशक समाप्त ॥

शतक दसवां उद्देशक १

भगवतीसूत्र के दसवें शतक में चौतीस उद्देशाओं का समावेश होता है। उन प्रत्येक का वर्णन निम्न है :—

पहले उद्देशक में दिशायें सम्बंधित दूसरे में संवरधर्मी श्रमण सम्बंधित, तीसरे में आत्म ऋध्दि से देव तथा देवियें कितने आवासान्तरों को उलांघते है चौथे में श्याम हस्ती मुनि के प्रश्न सम्बंधित, पांचवे में चमर आदि इन्द्र तथा इंद्राणि सम्बंधित छट्ठे में सुधर्म सभा के सम्बंधित और सात से चौतीस उद्देशक में उत्तर दिशा के २८ अन्तर्द्वीप का वर्णन है।

इस प्रकार ३४ उद्देशक में यह शतक पूर्ण होता है।

दिशा के लिए कथन :

राजगृही नगरी में समवसरण में विराजमान होकर त्रिशला नंदन देवाधिदेव भगवान महावीर स्वामी ने पर्षदा के सामने धर्म कहा और वह सुनकर प्रसन्न होकर पर्षदा अपने-२ स्थान पर गई।

विनय धर्म से अति नम्र गौतमस्वामी ने पूछा कि—हे भगवंत ! पूर्व दिशा जीवस्वरूप है या अजीव स्वरूप है ?

भगवान ने फरमाया कि-हे गौतम ! पूर्व दिशा में एकेन्द्रियादि जीव और पुद्‌गलास्तिकाय अजीव के रहने से जीव तथा अजीव रुप है। इस प्रकार पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, उर्ध्व और अधोदिशा के लिए भी जानना।

हे प्रभो ! दिशाएँ कितनी है ?

हे गौतम ! दिशाओं की संख्या दस है।

तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय अर्थात् केवली जीव होते हैं।

इसी प्रकार एकेन्द्रिय से यावत केवली के देश और प्रदेश रूप भी है। सारांश यह है कि पूर्व दिशा में एकेन्द्रिय जीव तथा केवली जीव भी रहते हैं।

इस दिशा में जो अजीव रहते हैं वह रूपी अजीव और अरूपी अजीव रूप दो प्रकार के हैं।

रूपी अजीव के चार भेद हैं!

(१) स्कंध (२) स्कंध देश (३) स्कंध प्रदेश (४) परमाणु पुद्गल अर्थात् पूर्व दिशा में पुद्गलों के स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु भी है।

अरूपी अजीव निम्न रूप से सात प्रकार के हैं।

(१) धर्मास्तिकाय का देश।
(२) धर्मास्तिकाय का प्रदेश।
(३) अधर्मास्तिकाय का प्रदेश।
(४) अधर्मास्तिकाय का देश।
(५) आकाशास्तिकाय का देश!
(६) आकाशास्तिकाय का प्रदेश।
(७) काल (अद्धा)

इस दिशा में धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीन द्रव्य नहीं हैं पर उसके देश और प्रदेश होते हैं।

कारण बताते हुए भगवान ने कहा कि, धर्मस्तिकाय से संपूर्ण धर्मास्तिकाय का बोध होता है और सूत्र में 'नो' शब्द का अर्थ निषेधार्थक होने से पूरे धर्मास्तिकाय का निषेध समझना इसी प्रकार से अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय का समझना। भगवतीसूत्र में इसी प्रकार सात भेद ही माने हैं।

कही है कि मिश्रित हुए शुक्र तथा रज के परमाणु अचित्त हैं तथा गर्भाशय सचित्त होने से मिश्र योनी मानी है। स्थावर और सम्मूर्छिम जीव की योनी भी मिश्र योनी मानी है।

हे गौतम ! दूसरे प्रकार से योनी तीन प्रकार की बताई हैं।

(१) संवृत्त योनी (२) विवृत्त योनी (३) मिश्र योनी।

एकेन्द्रिय जीव, नारक तथा देव जीवों की योनी ढंकी हुई होने से संवृत योनी है। विकलेन्द्रिय जीव की खुली योनी होने से विवृत्त होती है।

जबकि गर्भज पंचेन्द्रि तिर्यंच और मनुष्य की मिश्र योनी है। एकेइन्द्रिय जीव की संवव योनी है। नारक की संवृत्त योनी का स्थान गवाक्ष जैसा होता है और देव की देवशय्या भी ढंकी हुई होती है।

चौथे प्रकार में भी हे गौतम योनी के तीन भेद हैं :

(१) कूर्मोन्नत (२) संखावर्त और (३) वंशीपत्र।

पहली योनी में तीर्थंकर चक्रवर्ती, बलदेव तथा वासुदेव जैसे महापुरुष जन्म लेते हैं।

दूसरी योनी चक्रवर्ती के स्त्रीरत्न की होती है जो गर्भोत्पादक नहीं है।

शेष जीवों की वंशपत्री योनी होती है।

हे प्रभु ! वेदना कितने प्रकार की है।

भगवान ने कहा की हे गौतम ! शीत, उष्ण तथा मिश्र तीन प्रकार की वेदना होती है।

जिसमें ठंड का स्पर्श हो वह शीत वेदना।

गर्मी का स्पर्श हो वह उष्ण वेदना।

कहीं ठंड तथा कहीं गर्मी हो वह मिश्र वेदना।

नारक जीव को शीत तथा उष्ण वेदना होती है।

इस प्रकार असुरकुमार से वैमानिक तक जानना।

हे गौतम! उपरोक्त चारों प्रकार की वेदनायें सभी संसारी जीव भुगत रहे हैं। मनुष्य भी ईर्ष्या, क्रोध आदि के कारण अन्दर ही अन्दर वेदना भुगतते हैं। देव को भी भाव वेदना होती है।

हे गौतम! दूसरी भी तीन वेदना है—

(१) शारीरिक (२) मानसिक (३) मिश्रवेदना।

जिनको द्रव्य मन मिला है उन संज्ञी जीवों को छोड़कर बाकि के सभी असंज्ञी एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संमूर्छिम तिर्यंच और मनुष्य को शारीरिक वेदना अस्पष्ट, अकथनीय और अमल होती है।

पृथ्वीकायिक जीव का घात दो प्रकार से होता है—(१) स्वशस्त्र (२) परशस्त्र। अर्थात काली मिट्टी के साथ सफेद मिट्टी का, भूरे रंग की मिट्टी तथा पीली मिट्टी के साथ मिश्रण होते ही पृथ्वीकायिक जीव परस्पर घातक बनते हैं। यह स्वशस्त्र वेदना कहलाती है क्योंकि सफेद मिट्टी और कालीमिट्टी के जीव अलग-२ होते हैं। परस्पर भिन्न प्रकृति के होने से एक दूसरे के घातक हैं। अतः संयमधारी मुनिराज को एक गांव से दूसरे गांव में प्रवेश करते ही दंडासन से अथवा रजोहरण से पैर पूजने को कहा है।

कुल्हाड़ी, हल, फावड़ा आदि परशस्त्र हैं।

मानव के शरीर में रही हुई प्राणवायु किसी समय नाक की बांयी ओर से, किसी समय दायीं ओर से तथा किसी समय दोनों तरफ सेवा हर निकलती है। प्रत्येक मनुष्य के नाक में दो छिद्र होते हैं। नाक के बांये तरफ के छिद्र को चन्द्र या इड़ा नाड़ी तथा दायीं को पिंगला नाड़ी कहते हैं तथा छिद्रो को सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं।

इड़ा नामक चन्द्र नाड़ी को शास्त्रकार ने अमृतनाड़ी कहा है जो शरीर तथा आत्मा में अमृत की पुष्टी करनेवाली तथा सोचे हुए काम को करनेवाली होती है। चन्द्रस्वर अर्थात नाक के बांयी ओर से हवा नीकलती हो तब मनुष्य या स्त्री का मन प्रसन्न, गात्र ठंडे, तथा दिमाग शीतल होता है। उस समय में किये हुए कार्य को सफलता मिलती है।

सूर्यस्वर अर्थात पिंगला नाड़ी चलती हो तब मनुष्य को गर्मी, दिमाग में उष्णता तथा मानसिक दुःख का अनुभव होता है। साधारण बातचीत में भी क्लेश हो जाता है। इसमें शीघ्र फलप्रद कार्य करने चाहिए।

जब दोनों नाक में से हवा निकलती हो तब व्यवहारिक कार्य में हानि की संभावना होने से फलप्रद कार्य नहीं करने चाहिये अतः परमात्मा का ध्यान तथा मौन श्रेष्ठ है।

संसार के मनुष्य स्वयं के प्रत्येक कार्य में सुखी होना चाहते हैं। अतः परम दयालु जैनाचार्यों ने अमुक अमुक कार्य के लिए अलग अलग नाड़ी नियत की है। अर्थात कुछ कार्य उसी नाड़ी में करना जिससे शान्ति प्रदान हो तथा विघ्नों का नाश हो।

चन्द्रनाड़ी में करने के कार्य :

(१) जिन मंदिर बंधानेवाले भाग्यशाली जब
चलता हो तब पाया डाले।

मानव के शरीर में रही हुई प्राणवायु किसी समय नाक की बांयी ओर से, किसी समय दायीं ओर से तथा किसी समय दोनों तरफ से हवा निकलती है। प्रत्येक मनुष्य के नाक में दो छिद्र होते हैं। नाक के बांये तरफ के छिद्र को चन्द्र या इड़ा नाड़ी तथा दायीं को पिंगला नाड़ी कहते हैं तथा छिद्रों को सुषुम्ना नाड़ी कहते हैं।

इड़ा नामक चन्द्र नाड़ी को शास्त्रकार ने अमृतनाड़ी कहा है जो शरीर तथा आत्मा में अमृत की पुष्टी करनेवाली तथा सोचे हुए काम को करनेवाली होती है। चन्द्रस्वर अर्थात नाक के बांयी ओर से हवा नीकलती हो तब मनुष्य या स्त्री का मन प्रसन्न, गात्र ठंडे, तथा दिमाग शीतल होता है। उस समय में किये हुए कार्य को सफलता मिलती है।

सूर्यस्वर अर्थात पिंगला नाड़ी चलती हो तब मनुष्य को गर्मी, दिमाग में उष्णता तथा मानसिक दुःख का अनुभव होता है। साधारण वातचीत में भी क्लेश हो जाता है। इसमें शीघ्र फलप्रद कार्य करने चाहिए।

जब दोनों नाक में से हवा निकलती हो तब व्यवहारिक कार्य में हानि की संभावना होने से फलप्रद कार्य नहीं करने चाहिये अतः परमात्मा का ध्यान तथा मौन श्रेष्ठ है।

संसार के मनुष्य स्वयं के प्रत्येक कार्य में सुखी होना चाहते है। अतः परम दयालु जैनाचार्यों ने अमुक अमुक कार्य के लिए अलग अलग नाड़ी नियत की है। अर्थात कुछ कार्य उसी नाड़ी में करना जिससे शान्ति प्रदान हो तथा विघ्नों का नाश हो।

चन्द्रनाड़ी में करने के कार्य :

(१) जिन मंदिर बंधानेवाले भाग्यशाली जब स्वयं का चन्द्र स्वर चलता हो तब पाया डाले।

(१७) जवाहरात का कार्य भी चन्द्रस्वर में सीखना।

(१८) शादी के लिए घर से बाहर, घोड़ा, तथा मोटर में बैठना तथा पाणीग्रहण भी चन्द्रस्वर में करना, स्थायीकार्य तुष्टी-पुष्टी या मांगलिक कार्य भी चन्द्रस्वर में करने।

(१९) सुबह बिस्तर भी चन्द्रस्वर में पहले बांया पैर नीचे रखकर छोड़ना। सुषुम्ना नाड़ी के समय कभी नहीं छोड़ना। सुषुम्ना के समय बिस्तर छोड़ने से सारा दिन क्लेश में जायगा।

उपरोक्त सभी स्थायी तथा मांगलिक कार्य चन्द्रस्वर मे ही करने चाहिए।

सूर्य नाड़ी में करने के कार्य :

(१) नई विद्या का ग्रहण सूर्यस्वर (दाहीना) में करना।

(२) न्यायाधीश को कौनसा भी निवेदनपत्र देना हो तो सूर्यस्वर में।

(३) शत्रु को हराने का कार्य सूर्यस्वर में करना।

(४) भूत प्रेत तथा जाड़ा का कार्य सूर्यस्वर में।

(५) डॉक्टर या वैद्य रोगी को दवा सूर्यस्वर में देवे पर रोगी दवाई चन्द्रस्वर मे लेवे।

(६) किसी के साथ लड़ाई सूर्यस्वर में।

(७) भोजन सूर्यस्वर में करना परंतु पानी चन्द्रस्वर में पीना चाहिए।

(८) कामसेवन सूर्यस्वर में करना जिससे पुरुषार्थ की हानि कम होगी।

(९) नई डायरी तथा चोपड़े सूर्यस्वर में लिखना।

(१०) सूर्यस्वर में ही लड़ाई में जाना।

सत्यता या असत्यता नहीं होती है। केवल लोक व्यवहार मुख्य होता है। बोलने के आशय में मायावी असत्यता या स्वार्थपरता आदि दोष नहीं होने से कारण यह चौथी भाषा भाषासमिति के योग्य बनती है। चारों भाषा में से पहली सत्य भाषा तथा चौथी असत्या अमृषा भाषा पर ही भाषा समिति की छाप लगती है। बीच की दूसरी तथा तीसरी भाषा चाहे जिस आशय से बोली जाती हो तो भी उसका समावेश भाषा समिति में नहीं होता है।

इस बात को भगवान महावीरस्वामी ने भी कहा कि-हे गौतम! "मैं आश्रय करूंगा आदि भाषा में प्रज्ञापनीयत्व रहता है और मृषात्व नहीं है। उसके बारह प्रकार की भाषा में मृषात्व नहीं है। उसके बारह प्रकार निम्न हैः—

(१) आमंत्रणी भाषा—हे जिनदत्त! हे सुबोध! हे विनयचन्द्र : इस प्रकार का संबोधन जिस भाषा में हो वह आमंत्रणी भाषा है। इसमें तथा नीचे लिखी दूसरी भाषाओं में सत्य असत्य तथा मिश्र के लक्षण नहीं परंतु स्वयं का व्यवहार चलने के कारण इस भाषा में निर्दोष तत्त्व होने से यह भाषा मृषा भाषा नहीं है।

(२) आज्ञापनी भाषा—हे शिष्य! मेरी पुस्तक ले आओ। अन्य को प्रवृत्त करानेवाली भाषा आज्ञापनी है।

(३) याचनी भाषा—'मुझे भिक्षा दो' इत्यादि।

(४) पृच्छनी भाषा—"यह बात कैसे बन सकती है?" आदि।

(५) प्रज्ञापनी भाषा—'हिंसा करनेवाला मनुष्य दुखी बनता है। इसमें शिष्यों को उपदेश देने का भाव है।

(६) प्रत्याख्यानी भाषा—जैसे कि 'साधुओं को आवश्यक से अधिक वस्त्र-पात्र आदि रखना नहीं, इसमें मांगनेवाले को अधिक परिग्रह से रोकने के लिए प्रतिबंध वचनों का प्रयोग है।

इस प्रश्नोत्तर के पीछे यह आशय है कि, 'मैं आश्रय करूंगा' इत्यादि जो भाषा है वह भाषा है जो भविष्यकाल का बोध करानेवाली है। भावीकाल की अपेक्षा से उसमें कुछ कहने में आया है। परन्तु बीच में विघ्न की संभावना होने से यह बोली हुई भाषा विसंवादिनी भी हो सकती है। भाषा का प्रयोग करनेवाला स्वयं के लिए जब बहुवचन का प्रयोग करते हैं तब एकार्थ विषयवाली भाषा होनेपर भी बहुवचन में बोलने से उसमें अयथार्थता भी आ जाती है। आमंत्रणी आदि जो भाषा है वह विधिप्रतिषेधरहित होने से सत्य भाषा की तरह अर्थ प्रतिपादन में नियत नहीं। अतः अव्यवस्थित है। अतः ऐसी भाषा बोलनी चाहिए? कि नहीं?

भगवान ने कहा कि-हे गौतम! मैं आश्रय करूंगा आदि जो भाषा है वह प्रज्ञापनी भाषा है अतः असत्य नहीं है। 'आश्रयिष्यामि' में वर्तमान के योग की अपेक्षा अनवधारण रूप होनेपर भी 'आश्रय करूंगा' आदि रूप विकल्प गर्भवाली है। गुरु या स्वयं एक होने पर भी बहुवचन का प्रयोग स्वीकार होने से अर्थाख्यानिका है अर्थात स्वयं के वाच्यार्थ को प्रगट करनेवाली होने से प्रज्ञापनी भाषा है और आमंत्रणी आदि जो भाषा है उसमें वस्तु की तरह विधान नहीं तथा प्रतिषेध भी नहीं तो भी निरवद्य पुरुषार्थ साधक होने से वह प्रज्ञापनी भाषा है।

(२) सामानिक–इन्द्र की तरह ऐश्वर्य संपन्न तथा अमात्य, पिता गुरु उपाध्याय की तरह होते हैं। सिर्फ इन्द्र की तरह आज्ञा नहीं दे सकते हैं।

(३) त्रायस्त्रिंश–पुरोहित तथा मंत्री की तरह नियुक्त होते हैं।

(४) पारिषद्य–मित्र तथा सभासद् के समान।

(५) आत्मरक्षक–हथियार आदि लेकर इन्द्र के पीछे रहते हैं।

(६) लोकपाल–फौजदार के समान।

(७) अनिकाधिपति–सेनापति के समान।

(८) प्रकीर्णक–प्रजाजन जैसे।

(९) अभियोग–नौकर जैसे।

(१०) किल्विषिक–हरिजन के तुल्य।

इन दस भेद में से ये प्रश्नोत्तर त्रायस्त्रिंश देव के ही हैं। व्यंतर तथा ज्योतिष देवलोक में त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल नहीं होते हैं। बाकि सभी देवलोक के दस भेद हैं। नवमें, दसवें ग्यारहवें तथा बारहवें में एक एक ही इन्द्र होता है। ऊपर के नवग्रैवेयक तथा अनुत्तरविमान में इन्द्र नहीं होते हैं।

उस समय वाणिज्य ग्राम में स्थापित समवसरण में विराजित हुए भगवान महावीरस्वामी ने बारह पर्षदा को उपदेश दिया। सभी उपदेश सुनकर बहुत प्रसन्न हुए तथा अपने-२ घर गये।

एक दिन गौतम गणधर के पास श्यामहस्ती मुनि पधारे। जो रोहक अणगार की तरह भद्रिक, सरल तथा स्वयं के संयम के प्रति पूर्ण सावधान थे। उन्होंने गौतमस्वामी की तीन बार प्रदक्षिणा देकर विनयपूर्वक पूछा कि हे गौतम! असुरेन्द्र चमर को सहायता करनेवाले मैत्रीसखा संख्या में त्रायस्त्रिंश देव हैं?

शतक-१० उद्देशक-५

इन्द्र स्वयं की सभा में दिव्य भोग भोगते हैं क्या ?

उस समय भगवान महावीरस्वामी राजगृही नगरी के गुणशील चैत्य के उद्यान में पधारे धर्मोपदेश सुनकर पर्षदा अपने-२ घर गई।

उस समय देवाधिदेव के अनेक शिष्य तप तथा संयम से स्वयं की आत्मा को भावित करते थे जो जाति संपन्न, विनयी, विवेकवंत तथा जीवन मरण की इच्छा बिना के थे।

चौदहपूर्व के पूर्ण ज्ञाता, द्वादशांगी के रचयिता, चार ज्ञान के मालिक गौतमस्वामी विनयपूर्वक प्रभु के पास आकर वंदनापूर्वक पूछते हैं कि हे प्रभो ! चमरेन्द्र की कितनी रानियां है ?

भगवान ने कहा कि काली, रात्रि, रजनी, विद्युत और मेघा नाम की पांच पटरानियां है। एक एक के आठ आठ हजार देवियों का परिवार है। स्वयं की वैक्रिय शक्ति से आठ-२ हजार देवियों को विकुर्वी सकने में समर्थ होते है। इस प्रकार पांचो रानियों के ४० हजार देवी परिवार को 'त्रुटिक' अर्थात् वैक्रीयकृत देवी शरीर का समूह कहते है।

हे प्रभो ! असुरराजकुमार चमरेन्द्र स्वयं की चमरचंचा राजधानी की सुधर्मा सभा में चमर नाम के सिंहासनपर बैठकर चालीस हजार वैक्रिय शरीरधारी देवियों के समूह के साथ दिव्यभोग भोग सकते है ?

जवाब में भगवान ने कहा कि—हे स्थविरो ! ऐसा संभव हो नहीं सकता है क्योंकि चमरेन्द्र की चमरचन्चा राजधानी में स्थित सुधर्मा सभा में माणवक चैत्य स्तंभ में वज्र की बनी हुई गोलाकार डिबियों में अनेक

शतक दसवां उद्देशक—६

शक्रेन्द्र की सभा कहां है ?

गौतमस्वामी के पूछने से भगवान ने कहा कि—जंबूद्वीप के सुमेरुपर्वत के दक्षिण दिशा में रत्नप्रभापृथ्वी के बहुसम और रमणीयभूमि भाग से ऊपर चन्द्र, सूर्य ग्रह, नक्षत्र और तारा है वहां से बहुत कोड़ाकोड़ी योजन दूर सौधर्म नाम का देवलोक है। इस देवलोक में पांच बड़े विमान हैं।

(१) अशोकावतंसक।
(२) सप्तपर्णावतंसक।
(३) चंपकावतंसक।
(४) आमावतंसक।
(५) सौधर्मावतंसक।

इन पांचो विमानों की लम्बाई-चौड़ाई साढ़े बारह लाख योजन की है। शेष सूर्याभदेव के जैसा जानना।

यह शक्रेन्द्र बड़ी ऋद्धि, समृद्धि आदि तथा बड़े परीवार के ऊपर स्वयं का प्रभुत्व जमाते हुए सुखपूर्वक विहरता है।

॥ छठवा उद्देशक समाप्त ॥

शतक ११ उद्देशक-१

गणधर श्री गौतमस्वामी और सुधर्मास्वामी को द्रव्य तथा भाव से नमस्कार करके तथा टीकाकार श्री अभयदेवसूरीश्वरजी का स्मरण करके ११ शतक शुरु करता हूँ।

इस शतक में निम्न बारह उद्देशक हैं:-(१) उत्पल, (२) शालूक, (३) पलाश, (४) कुंभी, (५) नालिक, (६) पद्म, (७) कर्णिका, (८) नलिन, (९) शिवराजर्षि, (१०) लोक, (११) काल, (१२) आलंभिक।

यहां उत्पल के कंद को शालूक कहते हैं।

पलाश अर्थात् खाखरे का वृक्ष।

कुंभी अर्थात् वनस्पति विशेष।

नालिक को कमल की नाल कहते हैं।

कर्णिका अर्थात् कमल के मध्य में केशर रूप तंतु होते हैं।

आलंभिका नगरी है।

उपरोक्त बारह उद्देशकों से समृद्ध यह शतक है।

पहले उद्देशक में जो उत्पल (कमल) का वर्णन है उसको निम्नलिखित ३३ द्वार से विवेचित किया है। वह इस प्रकार है-उपपात, परिमाण, अपहार, अवगाहन, बंध, वेदन, उदय, उदीरणा, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, योग, उपयोग, वर्ण, रस, उच्छ्वास, आहार, विरति, क्रिया, बन्धक, संज्ञा, कषाय, स्त्री वेदादि, बंध, संज्ञी इन्द्रिय, अनुबंध, संबंध आहार, स्थिति, समुद्घात, च्यवन तथा समस्त जीव का मूलादिकों में उपपात।

इसप्रकार उत्पल का इस उद्देशक में ३३ द्वार से निर्णय करते हैं।

(२०) बंधद्वार—ये जीव सात और आठ प्रकार के कर्म बांधनेवाले होते हैं।

(२१) संज्ञाद्वार—उत्पलस्थ जीव आहार, मैथुन, भय और परिग्रह की संज्ञावाले होते हैं।

(२२) कषायद्वार—ये जीव ८० भांगेसहित चार कषायवाले होते हैं।

(२३) वेदादिद्वार—उत्पलस्थ जीव नपुंसक वेदनावाले ही होते हैं।

(२४) स्त्रीवेदादि बंधद्वार—हे प्रभु ? उत्पलस्थ जीव एकेन्द्रियादि अवस्था में रहनेपर भी क्या अगले भव के लिए स्त्रीवेद या नपुंसक वेद का बंध कर सकते हैं ?

भगवान ने कहा कि–हे गौतम ! एक पत्रस्थ उत्पल का जीव और इत्यादि पत्रों में रहे अनेक जीव स्त्रीवेद को भी बांधते हैं।

(इसमें २६ भांगे)

भावार्थ यह कि मिथ्यात्व के गाढ़ अंधकार में रहा हुआ जीव मात्र अपने-२ अध्यवसाय के अनुसार ही कर्मों का बंधन करते हैं।

चारों संज्ञा में (आहार, मैथुन, भय और परिग्रह) अत्यन्त आसक्ति होने के कारण जीवमात्र को आहार, भय, मैथुन और परिग्रह के प्रति तीव्र वासना बनी रहती है और वासना के मूल में मोहमाया की तीव्रता ही काम करती है जिससे मोहकर्म का तीव्र उदयवाला जीव वापस मोहकर्म को ही बांधता है।

नपुंसक वेद के उदयवर्ती जीव नपुंसकलिंग (शरीर) में रहनेपर भी स्वयं के नपुंसक शरीर के प्रति अत्यन्त दुःख ही अनुभव करते हैं। वैसे ही स्त्रीवेद को धारण करनेवाली स्त्री स्वयं के शरीर को नफरत की दृष्टि से ही देखती है जबकि पुरुष वेद का मालिक पुरुष अज्ञानता के भयंकर नशे में जब मोहकर्म की तीव्रतम उदीरणा करता है तब पुरुष वेद का भोक्ता होनेपर भी उसका मन मर्यादारहित ही रहता है। उस समय जब

शतक-११ उद्देशक-२

शालूक वनस्पति की वक्तव्यता :

जिसके जीवन का अणु-अणु संयम के रंग से और महावीर की आराधना से व्याप्त बना हुआ है। वे गौतमस्वामी भगवान श्री महावीर स्वामी को वंदन करके कहते हैं कि हे प्रभु! संवरतत्त्व द्वारा नये कर्मों के द्वार बन्धकर तथा निर्जरा तत्त्व द्वारा पुराने कर्मों को समूल समाप्त करने के बाद केवल ज्ञान के अधिपति तुम्हीं इस संसार के देवाधिदेव श्री अरिहंत देव हो।

सद्विवेक और सम्यक्त्व बुद्धि को धारण करनेवाले देवेन्द्रों द्वारा अरिहंत के ही चरण पूजे जाते हैं। अतः केवलज्ञान स्वरूप बोधितत्त्व को पाये होने से तुम्हीं 'बुद्ध' हो।

अनंत दुखों से मुक्त कराकर अव्याबाध सुख को देनेवाले तुम्हीं 'शंकर' हो।

मोक्षरूपी महल में पहुँचाने के लिए अनन्य कारण स्वरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग को दिखानेवाले तुम्हीं सच्चे 'ब्रह्मा' हो।

इसी कारण से स्पष्टरूप से आपको छोड़कर दूसरा कोई पुरुषोत्तम नहीं है।

इस प्रकार स्तवनकर गौतमस्वामी ने पूछा कि—हे प्रभो! वनस्पति विशेष शालूक (कमल कंद) की क्या वक्तव्यता है?

अतः हे प्रभु ! मैं किसी भी काल में ईश्वर पद को ग्रहण करने योग्य नहीं हूं। यथार्थ में काम विजेता आप ही होने से ईश्वर, परमात्मा, देवाधिदेव, सर्वज्ञ और तीर्थंकर हो क्योंकि सम्पूर्ण संसार को भस्मीभूत करने-वाले अग्निदेव को समुद्र का जल शान्त कर देता है तो भी वडवाग्नि उस समुद्र को भी स्वाहा करने की ताकत रखती है। इसी प्रकार मनुष्य को कामदेव ने वश में कर रखा है। तथा कामदेव को आपने वश में किया है। इस प्रकार स्तवना कर गौतमस्वामी ने पूछा कि हे प्रभु ! पलाश नाम की वनस्पति एक जीववाली है या अनेक जीववाली ?

भगवान ने कहा कि-हे गौतम ! उत्पल की तरह पलाश की वक्तव्यता जानना। विशेष यह कि पलाश की उत्कृष्ट अवगाहना दो कोस से नौ कोस तक तथा देवयोनी के देव का पलाश में उपपात नहीं होता है क्योंकि उत्पल तथा पलाश में वनस्पतित्व एकसा होनेपर भी जाति की अपेक्षा से उत्पल की जाति उत्तम तथा पलाश की जाती हीन मानी है। अतः देव का उपपात उत्पल जैसी उत्तम वनस्पति में ही होता है।

कितनी वनस्पति पुण्यहीन होने के कारण उत्तम वर्ग के मनुष्य के योग्य नहीं बनती है। जबकि उत्तम वनस्पतिये हीन जाती के मनुष्य के भोग्य नहीं बनती है। पुष्प में भी हीन जाति के पुष्प देवाधिदेव तीर्थंकर के चरणों में नहीं चढ़ते और उत्तम पुष्प आसुरी देव को नहीं चढ़ते।

जानवरों में भी कुत्ता, बिल्ली, कौआ, गधा आदि हीन जाति के और पुण्यहीन हैं। कबुतर, गाय, भैंस, हाथी, तोता, मोर आदि उत्तम जाति के

को स्वाहा, कामदेव को रति और आद्रदेव को धूमोर्णादेवी है। दूसरी तरह शंकर भगवान एक भीलड़ी के पीछे, ब्रह्माजी जैसे स्वयं की पुत्री के पीछे, इन्द्र अहिल्या तापसी के पीछे पागल बनकर कामदेव के सेवक बने हुए हैं।

अतः हे प्रभु ! ये किसी भी काल में ईश्वर पद को ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। सत्यार्थ में काम विजेता आप ही होने से ईश्वर, परमात्मा, देवाधिदेव, सर्वज्ञ और तीर्थंकर हो क्योंकि संपूर्ण संसार को भस्मीभूत करनेवाले अग्निदेव को समुद्र का जल शान्त कर देता है तो भी वडवाग्नि उस समुद्र को भी स्वाहा करने की ताकत रखती है। उसी प्रकार मनुष्य को कामदेव ने वश में कर रखा है। तथा कामदेव को आपने वश में किया है। इस प्रकार स्तवनाकर गौतमस्वामी ने पूछा कि हे प्रभु ! पलाश नाम की वनस्पति एक जीववाली है या अनेक जीववाली ?

भगवान ने कहा कि-हे गौतम ! उत्पल की तरह पलाश की वक्तव्यता जाननी। विशेष यह कि पलाश की उत्कृष्ट अवगाहना दो कोस से नौ कोस तक तथा देवयोनी के देव का पलाश में उपपात नहीं होता है क्योंकि उत्पल तथा पलाश में वनस्पतित्व एकसा होनेपर भी जाति की अपेक्षा से उत्पल की जाति उत्तम तथा पलाश की जाती हीन मानी है। अतः देव का उपपात उत्पल जैसी उत्तम वनस्पति में ही होता है।

कितनी वनस्पति पुण्यहीन होने के कारण उत्तम वर्ग के मनुष्य के योग्य नहीं बनती है। जबकि उत्तम वनस्पतिये हीन जाती के मनुष्य के भोग्य नहीं बनती है। पुष्प में भी हीन जाति के पुष्प देवाधिदेव तीर्थंकर के चरणों में नहीं चढ़ते और उत्तम पुष्प आसुरी देव को नहीं चढ़ते।

जानवरों में भी कुत्ता, बिल्ली, कौआ, गधा आदि हीन जाति के और पुण्यहीन हैं। कबुतर, गाय, भैंस, हाथी, तोता, मोर आदि उत्तम जाति के

आप निष्क्रिय हो जबकि मैं सक्रिय हूँ।
आप निष्कर्मी हो और मैं सकर्मी हूँ।
आप निष्कलंक हो, मैं सकलंक हूँ।
आप निश्चल हो, मैं सचल हूँ।
आप निरुपाधिक हो, मैं सोपाधिक हूँ।
आप रागरहित हो, मैं रागसहित हूँ।
आप ब्रह्मचारी हो, मैं भ्रमता हूँ।
आप वेदरहित हो, मैं वेदवाला हूँ।
आप अमल हो, मैं समल हूँ।

इतने सारे अन्तर को आप ध्यान में लो और मैं भी निर्गुण, निष्क्रिय, निष्कलंक, निरुपाधिक, रागरहित ब्रह्मचारी, अवेदी बनूं और कर्मों का क्षय करके अमल बन सकूं। इस प्रकार भगवान की श्लेषात्मक स्तुति करने के बाद पूछा कि हे प्रभु! कुंभिक वनस्पति एक जीववाली है या अनेक जीववाली?

भगवान ने कहा कि—पलाश की तरह ही कुंभिक वनस्पति को जानना केवल उनकी उत्कृष्ट अवगाहना दो वर्ष से नौ वर्ष तक की है। इसप्रकार भगवान की वाणी को प्रमाणभूत मानकर प्रसन्न हुए गौतमस्वामी भगवंत की यथार्थता के प्रति श्रद्धालु बने।

॥ चौथा उद्देशक समाप्त ॥

देदीप्यमान, शरीर से कोमल और आत्मशक्ति से वज्र जैसे आप मेरी प्रत्येक श्वासोश्वास में स्मृतिरूप में पधारो।'

लोभी के लोभ रूपी राक्षस को हटानेवाले, कामी को काम रूपी गुंडे से बचानेवाले, क्रोधी का क्रोधरूपी चांडाल से रक्षण करनेवाले, माया-रूपी नागिन के जहर से नाश हुए मनुष्य को देशनारूपी अमृत पिलाने वाले, हे जगत-उद्धारक! हे नाथ! आप मेरे कषायों को दूर करनेवाले बनो। हे यथार्थवादी भगवान! हम आपके यथार्थवाद का सत्कार करते हैं और श्रद्धा से आत्मसात् करते हैं परंतु इतना तो जरूर कहेंगे कि आपके यथार्थवाद को समझने के लिए मायावाद, शून्यवाद, प्रकृति, पुरुषवाद, जैमिनीकावैदिकवाद हिंसावाद, चार्वाक का नास्तिकवाद तथा अनीश्वरवाद का ईश्वर निराकरणवाद आदि वादों की परंपरा को जानने के बाद ही आपके यथार्थवाद का सत्यरूप में दर्शन कर सके हैं।

इस प्रकार स्तवना करके गौतमस्वामी ने पूछा कि—हे प्रभु! कर्णिका-वनस्पति के लिए आपका क्या कथन है?

भगवान ने कहा कि—उत्पलरूप जीवों की तरह इसका भी समझ लेना।

अर्थात् ३३ द्वार से जिस प्रकार उत्पल के लिए कहा है कि वैसे ही कर्णिका का जानना।

भगवन् की वाणी सुनकर गौतमस्वामी ने कहा कि—अरिहंत के वचन सर्वथा सत्य तथा यथार्थ है।

॥ सातवां उद्देशक समाप्त ॥

इसप्रकार स्थापना करके गौतमस्वामी ने पूछा कि—हे प्रभु ! नालिन वनस्पति एक जीववाली है या अनेक जीववाली ?

भगवान ने कहा कि—हे गौतम ! उत्पलविषयक जो वक्तव्यता कही है वही नालिन के विषय में भी समझ लेनी । संसारवर्ती सभी जीवात्माएँ इन सब योनिओं में अनन्तवार उत्पन्न हुए हैं ।

भगवंत की एतद्विषयक यथार्थवाणी सुनकर गौतमस्वामीजी अतीव हर्षित हुए और अपने ध्यान में एकाग्र बने ।

॥ आठवां उद्देशक समाप्त ॥
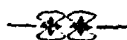
शतक-११ उद्देशक-९

शिवराज ऋषि की वक्तव्यता :

उस समय हस्तिनापुर नामक नगर था । उसके बाहर ईशान दिशा में सहस्राम्रवन नाम का उद्यान था जो वसंत, हेमन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओं से संपन्न था अर्थात् नंदनवन से भी अधिक सुंदर तथा कंटक आदि उपद्रव से रहित था ।

उस नगर में हिमाचल पर्वत की तरह शिवराजा नामक राजा राज्य करता था । मलयाचल तथा सुमेरु पर्वत के समान शक्ति थी तथा धारिणी

कुंडिकाधारी—कमंडल रखनेवाले।

दंतोदूखलिक—दांतों के द्वारा चबाकर फल खानेवाले।

उन्मज्जक—जल के ऊपर तैरकर स्नानकरनेवाले।

सम्मज्जक—बार बार पानी पर तैरकर स्नानकरनेवाले।

निमज्जक—पानी में थोड़ी देर डुबकी मारकर स्नानकरनेवाले।

संप्रक्षालक—पहले मिट्टी चोपड़कर पीछे स्नान करनेवाले।

ऊर्ध्वकंडूयक—नाभि के ऊपर के अंग को खुजलानेवाले।

अधः कंडूयक—नाभि के नीचे के अंगों को खुजलानेवाले।

दक्षिण कूलक—पूर्व दिशा की ओर बहती हुई गंगा नदी के दक्षिण किनारे पर रहनेवाले।

उत्तरकूलक—गंगा नदी के उत्तर किनारे पर रहनेवाले।

शंखध्मापक—शंख बजाकर भोजन करनेवाले।

कूलध्मापक—नदी के किनारे पर शब्द करके भोजन करनेवाले।

मृगलुब्धक—मृग के मांस का भोजन करनेवाले।

जल क्लिन्नगात्र—जल स्नान द्वारा गीले वस्त्र पहननेवाले।

अंबुवासस—नग्नावस्था में पानी में बैठनेवाले।

वल्कलवासस—वल्कल पहननेवाले।

चल वासस—कंथा को पहननेवाले।

अंबुभक्षी—केवल पानी पीनेवाले।

वायुभक्षी—वायु का आहार करनेवाले।

शैवाल भक्षी—शैवाल का आहार करनेवाले।

मूलाहारी—मूल मात्र का आहार करनेवाले।

उपरोक्त ६ वस्तुएँ रखकर मार्गों में स्वयं बैठ गया। फिर मधु, घी और तांदुल की अग्नि में आहुति दी तथा होमी हुई वस्तुओं से चरु तैयार किया। इस पांच में पके हुए द्रव्य को वैश्वदेव अर्थात अग्नि को अन्न प्रदान किया। अतिथि को जिमाकर फिर भोजन किया। इस प्रकार आगे बढ़कर छट्ठ की तपस्या के पारणे के दिन अलग-अलग दिशा में जाते हैं। विधि उपरोक्त है।

इसप्रकार दिशा चक्रवाल तप की आराधना में निरंतर आतापना लेते हैं। स्वभाव में सरलता, नम्रता आदि गुण होनेपर ईहा-अपोह मार्गण और गवेषणा करते हुए उस मुनि को विभंग ज्ञान उत्पन्न हुआ। यह ज्ञान सात द्वीप तथा सात समुद्र तक मर्यादित होने से तथा अवधि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने से ऋषि ने १४ रज्जु (पूर्ण ब्रह्मांड) में सात द्वीप तथा सात समुद्र ही है यह समझा कि पूरे संसार में सात समुद्र तथा सात ही द्वीप हैं। फिर आतापना भूमि से नीचे उतरकर वल्कल पहना तथा झोपड़ी में आये। स्वयं के सभी उपकरण लेकर हस्तिनापुर नगर में जहां तापसों के आश्रम थे वहां आये। वहां सभी के मध्य में कहा कि मुझे ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हुआ है जिससे संसार में सात द्वीप और सात समुद्र ही है। उन द्वीप तथा समुद्र को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ तथा इस ज्ञान का वर्णन दूसरे को सुना सकता हूँ इस प्रकार का अतिशय संपन्न ज्ञान और दर्शन मुझे उत्पन्न हुआ है।

शिवराजर्षी की यह बात सुनकर हस्तिनापुर के लोग परस्पर ये बातें करने लगे कि "ऋषी का यह कथन हम सत्य कैसे मानें ? क्योंकि कथन में कुछ भी युक्ति नहीं है।" लोग जिस समय यह चर्चा कर रहे थे उसी समय अनंत संसार में असंख्यात द्वीप-समुद्र को स्वयं के अनंत ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष करनेवाले देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी स्वयं के १४ हजार उत्कृष्ट मुनि ३६ हजार साध्वियों से परिवृत्त होकर गांव-गांव परिभ्रमण करते हुए जगत के जीवों के कल्याण के लिए हस्तिनापुर पधारे। गांव के लोग भगवान को वंदन तथा धर्मोपदेश सुनने के लिए समवसरण में आये।

रहता है। इसीप्रकार जीव पुद्गल आदि पदार्थ भी इस जंबूद्वीप में संपूर्ण रूप से भरे रहते हैं।

भगवान ने कहा कि—हे गौतम ! जंबूद्वीप में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श वाले पौद्गलिक पदार्थ तथा उसके बिना धर्मास्तिकाय के पदार्थ परस्पर संबद्ध, स्पष्ट और समभर घटरूप से रहते हैं। इसीप्रकार लवण समुद्र तथा धातकी खंड से लेकर स्वयं भूरमण-समुद्र तक ये दोनों द्रव्यों की विद्यमानता जाननी। अन्योन्य स्पष्ट होकर रहनेपर भी ये अपने-अपने स्वभाव को छोड़ते नहीं हैं।

इसप्रकार गौतमस्वामी और महावीरस्वामी के मध्य में जो प्रश्नोत्तर हुए वे समवसरण में बैठी विशाल जनता ने सुना तथा संतोष पाकर प्रभु को वंदन करके वहां से घर पर गई।

परस्पर बातें प्रसारित हुई कि शिवराजर्षी का कथन असत्य है तथा प्रभु महावीर का कथन सत्य है। कर्णोपकर्ण इस बात को जब शिवराजर्षी ने सुना तब उनका मन शंका—आकांक्षा—विचिकित्सा, भेदयुक्त और कलुषित भाववाला हुआ और ऐसा होनेपर तुरंत ही मेहमान के रूप में आया विभंगज्ञान भी चला गया। फिर ऋषि को विचार आया कि धर्म के आदि-कर्ता, तीर्थंकर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी प्रभु महावीरस्वामी अभी हस्तिनापुर के सहस्राम्रवन में विराजमान है, उनका धर्मचक्र आदि आकाश में चलता है, अतः उन अरिहंत का नाम गोत्र का स्मरण करने मात्र से बहुफल की प्राप्ति होती है तो फिर उनका पूजन, वंदन, नमन, स्मरण, दर्शन आदि की आराधना महाफलवाली हो उसमें क्या आश्चर्य ?" मुझे भी प्रभु के पास जाना चाहिये। जिससे इस भव में और परभव में मेरा कल्याण हो। यह विचार कर तापस उपकरण रखकर हस्तिनापुर गांव के बीच से जहां समवसरण था वहां आये तथा तीन प्रदक्षिणा देकर वंदन कर उचित स्थान पर हाथ जोड़कर खड़े रहे।

मिथ्यात्वरूपी अंधकार में से सभी जीव सम्यग्दर्शनरूपी प्रकाश को

(१) ईर्ष्या और द्वेष में धमधमता मनुष्य पग से लंगड़ा है अतः दूसरे के साथ केवल बकवास करने के सिवाय दूसरा कुछ नहीं कर सकता है।

(२) सर्वांग सुन्दर है परन्तु मन-वचन-काया से कमजोर है अतः वह भी दूसरे के साथ बकवास ही करेगा।

(३) मन-वचन और काया से सशक्त है। पर बौद्धिक जीवन अभी भी मारकाट के लिए तैयार नहीं है। अतः क्रोध आनेपर भी लकड़ी को इधर-उधर फिराने के सिवाय कुछ नहीं कर सकेगा।

(४) घर में तलवार, बंदूक होनेपर भी उसके उपयोग में अज्ञात होने से दूसरे को तलवार आदि दिखाकर धमकी के अलावा कुछ भी नहीं कर सकता है।

(५) वचन तथा काया में हिंसक वृत्ति है। दूसरे को मौत के घाट उतारने की ताकत है हाथ में तलवार आदि पकड़ने की हैसियत भी है परन्तु मानसिक तथा बौद्धिक जीवन में मार डालने की भावना न होने से हाथ में लिए हुए शस्त्रों को भी उपयुक्त नहीं करेगा।

(६) मन-वचन तथा काया के कण कण में हिंसक भाव होने से ही दूसरे को मार देगा।

इत्यादि प्रसंग में हड्डियों की ताकत अनिवार्य है। क्योंकि हड्डियों की ताकत शरीर में आती है तथा शरीर की ताकत मन और बुद्धि में आती है।

संघयण-संहनन का अर्थ शास्त्रकार ने इस प्रकार किया है "अट्ठिनि-चओ' अर्थात् बंध रहे मकान में खंभे की मजबूती अत्यन्त आवश्यक है वैसे शरीर की रचना में भी हड्डियों की मजबूती आवश्यक है।

गर्भ से जन्म लेनेवाले सभी जीव के शरीर में हड्डियां होती हैं परन्तु सभी की मजबूती एक समान नहीं होती। क्योंकि जीवमात्र के

की जोड़ परस्पर मर्कटबंध से बंध जाने के बाद दोनों तरफ हड्डियों के बीच होती है तथा दोनों हड्डियों के बीच को अच्छी प्रकार से काम में लाने के लिए चारों तरफ से हड्डियों का पट्टा होता है और आर पार उतर जाए ऐसा खील्ला कीला हुआ होता है। यह प्रथम संहनन नामकर्म के प्रताप से ही।

(२) ऋषभ नाराच संहनन—इसमें प्रथम संहनन की तरह, केवल बीच में आरपार खील्ला का अभाव है।

(३) नाराच संहनन—इसमें आर-पार उतरे ऐसा खील्ला तथा पट्टा नहीं होता है केवल मर्कटबंध ही होता है।

(४) अर्धनाराच संहनन—मर्कटबंध में भी एक तरफ मर्कटबंध तथा दूसरी तरफ खील से टीका हुआ होता है।

(५) किलिका संहनन—दोनों हड्डियां केवल खीली से टीकी हुई होती है।

(६) सेवार्त संहनन—इसमें केवल हड्डियों के सिरे ही परस्पर जुड़े रहते हैं। मजबूती के लिए और कुछ नहीं होता है।

इस प्रकार ये छः संहनन स्थावर, देव और नारकी के नहीं होते हैं क्योंकि उनके शरीर में हड्डियों का अभाव होता है।

संस्थान नामकर्म—इस कर्म के कारण शरीर पर्याप्ति द्वारा रचे हुए शरीर में सुन्दरता और असुन्दरता का निर्माण होता है। यह संस्थान भी छः प्रकार का है :—

(१) समचतुरस्र संस्थान—शरीर के चारों कोने जिसके बराबर हो अवयव सुव्यवस्थित हो, आकार-प्रत्याकार सुन्दर हो तथा उठते, बैठते, चलते भी सभी को पसंद आ जाय ऐसा होता है। बेडोल नहीं होता है।

(२) न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान—वड़ का वृक्ष जैसे ऊपर से घटाकार

का कल्याण चाहते हो तो मेरे लिए दुकान में से एक रजोहरण और पात्र मंगा दीजिए तथा नाई की व्यवस्था कीजिए। फिर दीक्षा आदि का प्रसंग जमाली की तरह जानना। चढ़ते परिणाम से दीक्षित हुए महाबलमुनि ने १४ पूर्व का अध्ययन किया, छट्ठ अट्ठम आदि तपस्या से श्रमणपर्याय का पालन कर अंत में एकमास की संलेखना करके प्रतिक्रमण किया। समाधि भाव में लीन होकर ऊर्ध्वलोक में सूर्य–चन्द्र–नक्षत्र–तारा आदि से अनेक योजन ऊपर वैमानिक देव के पांचवें (ब्रह्म) देवलोक में देव पर्याय में उत्पन्न हुए जहां दस सागरोपम की आयुष्य मर्यादा है। इसप्रकार कथा का उपसंहार करते हुए भगवान ने कहा कि—हे सुदर्शन सेठ! तुम स्वयं ही देवपर्याय में दस सागरोपम की आयुष्य मर्यादा पूर्णकर वाणिज्य ग्रामनगर में श्रेष्ठीकुल में पुत्ररूप में जन्मे हो।

सुदर्शन सेठ की सिद्धिगमन की वक्तव्यता—

भगवान ने कहा कि—हे सुदर्शन! युवावस्था में तुमने एक दिन किसी मुनिराज को देखा तथा भक्तिपूर्वक धर्मश्रवण किया। वह धर्म तुम्हें रुचिकर लगा तथा अभी भी उसी धर्म की आराधना कर रहे हो। इस कारण से मैंने तुमसे कहा था कि पल्योपम तथा सागरोपम का भी क्षय होता है।

भगवान की वाणी सुनकर सुदर्शन सेठ के परिणाम बहुत शुद्ध हुए। भाव लेश्या शुद्ध हुई, तथा जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। भगवंत के मुख से स्वयं के पूर्वभव का वृत्तांत अत्यन्त श्रद्धेय लगा तथा धर्म के प्रति श्रद्धा, सदनुष्ठान के प्रति भान, संसार का भय तथा मोक्षाभिलाषा जो पहले थी उस करते भी दुगुनी हुई। अरिहंत धर्म के प्रति इतना आनंद आया कि हर्ष के आंसू आ गये तथा ये भाव जागे कि ऐसा श्रमण धर्म मुझे कब प्राप्त होगा? फिर से मुझे जन्म न लेना पड़े ऐसा भाग्योदय कब होगा? इत्यादि भावना में खड़े रहकर सुदर्शन सेठ ने परमात्मा की तीन बार प्रदक्षिणा की

का कल्याण चाहते हो तो मेरे लिए दुकान में से एक रजोहरण और पात्र मंगा दीजिए तथा नाई की व्यवस्था कीजिए। फिर दीक्षा आदि का प्रसंग जमाली की तरह जानना। चढ़ते परिणाम से दीक्षित हुए महाबलमुनि ने १४ पूर्व का अध्ययन किया, छट्ठ अट्ठम आदि तपस्या से श्रमणपर्याय का पालन कर अंत में एकमास की संलेखना करके प्रतिक्रमण किया। समाधि भाव में लीन होकर ऊर्ध्वलोक में सूर्य–चन्द्र–नक्षत्र–तारा आदि से अनेक योजन ऊपर वैमानिक देव के पांचवें (ब्रह्म) देवलोक में देव पर्याय में उत्पन्न हुए जहां दस सागरोपम की आयुष्य मर्यादा है। इसप्रकार कथा या उपसंहार करते हुए भगवान ने कहा कि—हे सुदर्शन सेठ! तुम स्वयं ही देवपर्याय में दस सागरोपम की आयुष्य मर्यादा पूर्णकर वाणिज्य ग्रामनगर में श्रेष्ठीकुल में पुत्ररूप में जन्मे हो।

सुदर्शन सेठ की सिद्धिगमन की वक्तव्यता—

भगवान ने कहा कि—हे सुदर्शन! युवावस्था में तुमने एक दिन किसी मुनिराज को देखा तथा भक्तिपूर्वक धर्मश्रवण किया। वह धर्म तुम्हें रुचिकर लगा तथा अभी भी उसी धर्म की आराधना कर रहे हो। इस कारण से मैंने तुमसे कहा था कि पल्योपम तथा सागरोपम का भी क्षय होता है।

भगवान की वाणी सुनकर सुदर्शन सेठ के परिणाम बहुत शुद्ध हुए। भाव लेश्या शुद्ध हुई, तथा जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। भगवंत के मुख से स्वयं के पूर्वभव का वृत्तांत अत्यन्त श्रद्धेय लगा तथा धर्म के प्रति श्रद्धा, सदनुष्ठान के प्रति मान, संसार का भय तथा मोक्षाभिलाषा जो पहले थी उस करते भी दुगुनी हुई। अरिहंत धर्म के प्रति इतना आनंद आया कि हर्ष के आंसू आ गये तथा ये भाव जागे कि ऐसा श्रमण धर्म मुझे कब प्राप्त होगा? फिर से मुझे जन्म न लेना पड़े ऐसा भाग्योदय कब होगा? इत्यादि भावना में खड़े रहकर सुदर्शन सेठ ने परमात्मा की तीन बार प्रदक्षिणा की

शतक-११ उद्देशक-१२

इस उद्देशक में आलंभिका नगरी का वर्णन, ऋषभदत्त आदि श्रमणोपासक का वर्णन, ऋषिभद्रपुत्र मुनिधर्म स्वीकारने के लिए समर्थ है कि नहीं? देवलोक से च्यवकर कहां जायेंगे? इत्यादि प्रसंग का वर्णन इस उद्देशक में किया है।

उस समय औपपातिक सूत्र में वर्णित चंपानगरी जैसी विशाल आलंभिका नामक नगरी थी—वहां शंखवन नाम का चैत्योद्यान था तथा श्रमणोपासक गृहस्थों की संख्या बहुत थी उन सभी में ऋषिभद्रपुत्र सेठ मुख्य थे तथा अग्रणी थे।

"उपासते इति उपासका श्रमणानामुपासका इति श्रमणोपासका अथवा श्रमणा उपास्यन्ते यैस्ते श्रमणोपास्या" अर्थात् श्रमणों की उपासना करने वाला, श्रमणो का उपासक या जिसके द्वारा श्रमण उपास्य बने वे श्रमणोपासक कहलाते हैं। पंच महाव्रत को धारण करनेवाले, पांच समिति तथा तीन गुप्ति के धारक, अहिंसा-संयम और तपधर्म के पालक, आहार-शरीर और आत्मा की शुद्धि के लिए प्रतिक्षण जागृत। बोलने-चलने-उठने-बैठने में अहिंसक भाव रखनेवाले, गृहस्थों के किसी भी प्रसंग में भाग नहीं लेने वाले, समाज में क्लेश तथा भेद नहीं गिराते, लोकैषणा, भोगैषणा और वित्तैषणा के पूर्ण त्यागी, मित, पथ्य तथा धर्म्म भाषा बोलने वाले, वैसे ही शारीरिक सभी क्रियाओं में उपयोग सहित, जीवन जीते हो वे श्रमण हैं। ऐसे श्रमण की मन-वचन-काया से सेवा-उपासना करे, उनके आहार पानी व औषध की यथा-शक्ति भक्ति करे, उनके सम्यग्दर्शन की शुद्धि के लिए पवित्र तथा स्वच्छ व्यवहार रखे, उनका मन चारित्र में लगा रहे वैसा पवित्र वातावरण उत्पन्न करे, उपाश्रय में किसी प्रकार का क्लेश-

एक दिन सभी श्रमणोपासक एक स्थान पर इकट्ठे होकर इसप्रकार बात करने लगे कि, हे आर्यो ! देवलोक में रहे देव की आयुष्य मर्यादा कितनी है।

जवाब में ऋषिभद्र पुत्र श्रमणोपासक ने कहा कि आर्यो ! देव की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है। इससे आगे किसी देव की एक समय किसी की दो समय किसी की ३-४-५-६-७-८-९-१० समय अधिक यावत् संख्यात अधिक करते-२ उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की है। इससे अधिक आयु किसी देव की नहीं है।

इसप्रकार की यथातथ्य वानी सुनकर दूसरे श्रमणोपासकों को उपरोक्त बात पर श्रद्धा न होने से परस्पर यह कहने लगे कि ऋषिभद्रपुत्र की यह बात सच कैसे माने ? कि देव जघन्य से १० हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट से ३३ सागरोपम की आयुष्यवाले होते हैं।

उसी समय प्राणिमात्र के मानसिक पर्यायों के ज्ञाता भगवान महावीर-स्वामी चतुर्विध संघ के साथ विहार करते हुए आलंभिका नगरी के शंखवन नामक उद्यान में पधारे। देवाधिदेव भगवान का आगमन सुनकर तथा खुश होकर जनता समवसरण में आती है तथा वंदन करके ऋषिभद्रपुत्र के प्रश्न तथा उत्तर सुनाती हैं साथ-साथ श्रमणोपासक पूछते हैं कि—हे प्रभु ! ऋषि-भद्रपुत्र के जवाब क्या सही हैं ? भगवान ने कहा कि हे आर्यो ऋषिभद्र-पुत्र के जवाब सर्वथा सत्य है। क्योंकि मैं तथा दूसरे तीर्थंकर भी देवगति का जघन्य आयुष्य १० हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट ३३ सागरोपम का कहते हैं।

भगवान का यह निर्णय सुनकर पर्षदा खुश हुई। वंदन करके जहां ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक था वहां जाकर स्वयं के अपराध की क्षमा मांगते हैं। बाद में अनेक प्रश्नोत्तर होते हैं तथा घर जाते हैं।

एक समवसरण में भगवान महावीरस्वामी से गौतमस्वामी ने पूछा कि—हे प्रभु ! ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक आपके चरणों में मुंडित होकर

जबकि दूसरे क्षेत्र युगलिक मानव के होने से वह अकर्मभूमि कहलाती है।

प्रत्येक चौबीशी में भी तीर्थंकरों की उत्कृष्ट संख्या १७० तथा जघन्य संख्या बीस होती है। महाविदेह क्षेत्र में हमेशा चौथा आरा ही रहता है। भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में ६-६ आरे के प्रमाण में तीसरे और चौथे आरे में ही तीर्थंकर चक्रवर्ती वासुदेव आदि विद्यमान होते हैं।

जिस समय इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ भगवान विद्यमान थे। उस समय—

पांच भरत में — पांच तीर्थंकर

पांच ऐरावत में — पांच तीर्थंकर

पांच महाविदेह — १६० तीर्थंकर

अर्थात् सभी तीर्थंकरों की उत्कृष्ट संख्या १७० थी।

भूत, भविष्य और वर्तमानकाल में होनेवाले सभी तीर्थंकर, केवलज्ञान तथा चरम सीमा के पुण्यवंत होते हैं। ३४ अतिशय से युक्त ऐसे तीर्थंकर, देव द्वारा रचित समवसरण में विराजमान होकर देशना देते हैं। सभी तीर्थंकर की देशना आर्थिक रूप से एक सी होती है।

अभी भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में पांचवां आरा विद्यमान होने से एक भी तीर्थंकर नहीं है तथा महाविदेह क्षेत्र में २० तीर्थंकर विद्यमान हैं।

उत्कृष्ट तप संयम का आराधक जीव जब महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेता है तब कम से कम आठ वर्ष की आयु में तीर्थंकर के समवसरण में निमित्त मिलते ही तथा भवितव्यता का परिपाक होनेपर दीक्षा अंगीकार करता है तथा घाती कर्म का क्षय करके सिद्ध होता है। सिद्धशिला में ज्योती से ज्योती प्राप्त कर लेता है।

[illegible] के संसार के [illegible] स्वयं के जीवन में [illegible] आनेवाले [illegible] में संयमी होना पड़े, इसके लिए स्वयं के संसार जीवन में झूठ, प्रपंच, धोखा, [illegible], आदि पापों को जीवन में से दूर करना ही होगा अपना जीवन [illegible] दुर्गुणों को दूर करने की [illegible] । ऐसा करने से भविष्य में यदि संयम मार्ग [illegible] में [illegible] आ जाय तो उसका संयमी जीवन भी शुद्ध, स्वच्छ और पवित्र बनकर स्वयं का तथा समाज का कल्याण करने में सफल बनेगा ।

अनादिकाल से मिथ्यात्व की उपासना में ही मस्त बना हुआ जीव मोहकर्म के नशे में अभी तक क्षुद्र, मिथ्याभिमानी, क्रूर, लोभी, क्रोधी, तुच्छ, ईर्ष्यालु, आदि आत्मघातक दुर्गुणों का स्वामी होने से गृहस्थाश्रम तथा जीवनधन को शोभित नहीं कर सका । धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन में सत्य तथा सदाचार नहीं बना सका । अतः दया के सागर भगवान महावीरस्वामी ने कहा कि—हे मानव ! अनादिकाल का परिभ्रमण मिटाना हो, संसार को छोटा बनाना हो और भावलब्धि का परिपाक तत्काल करना हो तो सबसे प्रथम श्रावक धर्म के २१ गुण तथा मार्गानुसारी के ३५ गुणों को प्राप्त करने का ही प्रयत्न करना ।

इससे मिथ्यात्व का रंग, कषाय का मैल तथा मोह का कीचड़ साफ होगा और जीवन उज्ज्वल बनेगा । फिर सम्यक्त्व का रंग लगाने से जीवन पवित्र, सरल तथा स्वच्छ बनेगा । ऐसा होनेपर अनंतानंत पाप तथा पाप द्वार को काबू में रखने के लिये श्रावक धर्म के पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत को स्वीकार करेगा । अशिक्षित आत्मा को आध्यात्मिक जीवन की शिक्षा देने के लिए चार शिक्षाव्रत से युक्त जीवन बनायेगा । इसीलिए कहने का है कि गृहस्थ [illegible] भूमिका है ।

[illegible] । का [illegible] , मोटर या रेलगाड़ी

का पाप सिर पर न लेना हो तो गृहस्थाश्रम को सुन्दर पवित्र और व्रत-नियममय बनाये बिना छुटकारा नहीं है।

एक समय भारत देश आध्यात्मिकता का जनक था तथा पूर्ण ब्रह्मांड को भी संयम और आध्यात्मिकता के लिये आदर्शरूप था। उसके मूल में—

अहिंसा धर्म की यथाशक्य साधना थी।

सत्यव्रत को ही परमात्मरूप में माननेवाला था।

चोरी, लूट आदि से रहित था।

संयम, शील और एकपत्नीव्रत धर्म से देदीप्यमान था।

परिग्रह में भी न्यायसंपन्नता, एक तोल-भाव का व्यवहार था।

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और उपेक्षा भाव से ओत-प्रोत था।

दया, दान, पुण्य और सत्कर्म ही खजाना रूप थे।

नीति, न्याय और प्रामाणिकता रोम-रोम में थी।

पति, पत्नी, मातृ, पितृ धर्म से दीप्त जीवन था।

काम, क्रोध, मोह, माया आदि दुर्गुणों पर कंट्रोल था।

संत समागम सभी को प्यारा था।

उपरोक्त सुकृत्य भारत के कोने-कोने में गूंज रहे थे।

आज के भारत का नक्शा सर्वथा विपरीत है। इसलिये आज के भारत का श्रीमंत सत्ताधारी दुःखी है। साधु की आत्मा प्रेमशून्य है, गृहस्थ का जीवन भक्तिरहित है। पिता स्वयं के स्वार्थ में कपट कर रहा है। मिल मालिक तथा मजदूरों के स्वार्थ अलग हैं। सेठ तथा नौकर के स्वार्थ भी अलग-अलग। अतः आपस में भयंकर संघर्ष, मारकाट और एक-दूसरे को मारने की भावना है। सभी एक-दूसरे के गठबंधन में दूसरे के साथ दांव-पेंच खेलने की अनुकूलता देख रहे हैं। इसी कारण से सत्य, अहिंसा, प्रेम,

[illegible] आदि शब्द केवल बोलने के ही रह गये हैं तथा जीवन तो [illegible] शून्य रह गया है।

ऋषिभद्र पुत्र श्रमणोपासक ने श्रावक व्रत स्वीकार किये तथा उनकी आराधना करके देवलोक में जायेगा और फिर मोक्षगामी होगा।

पुद्गल परिव्राजक की सिद्धि वक्तव्यता :

किसी समय भगवान महावीरस्वामी ने आलंभिका नगरी से विहार किया। पौद्गलिक विषय-वासना के सुख की चरम सीमा को पहुंचे हुए करोड़ों देवी-देवता भी विहार में साथ थे कितने देव प्रभु के सामने मार्ग साफ करते थे, कितने सुगंधी जल के छिड़काव करते थे, कितने देव चामर, दर्पण तथा कलश लेकर चल रहे थे। देव दुंदुभि के जयनाद से कितने देव मोहनिद्रा में सोती हुई जनता को जागृत करने के लिए उद्घोषणा कर रहे थे कि हे भाग्यशालियों मोहनिद्रा, प्रमाद, आलस्य और तन्द्रा ये मृत्यु है तथा जिनेश्वर की वाणी अमृत है। काम, क्रोध, लोभ और माया जहर है तथा निष्कामवृत्ति समता, संतोष और सरलता अमृतपान है। अनंत संसार में परिभ्रमण करनेवाले तुम सब जागृत होकर जिनेश्वर के चरणों में आकर नमन करो जिससे संसार का दुःख नष्ट होगा तथा सुखों की प्राप्ति होगी।

भगवान के साथ केवलज्ञानी थे। भावी-चौबीसी मे होनेवाले तीर्थंकर के जीव भी साथ थे। चार ज्ञानधारी योगी महायोगी, मुनि, महामुनि, त्यागी भी साथ थे। शील धर्म की मूर्तिस्वरूपा चंदनबाला, मृगावती जैसी अगणित साध्विये तथा श्रावक-श्राविकाएं साथ थे।

इसप्रकार चतुर्विध संघ के साथ विहार करते हुए दया के सागर भगवान महावीरस्वामी ग्रामानुग्राम विचर रहे थे।

उस समय भगवान के समवसरण से ज्यादा दूर भी नहीं तथा ज्यादा

पास भी नहीं ऐसे स्थान पर 'पुद्गल' नामक परिव्राजक रहता था वह वेद वेदांत का पारगामी, ऋग्-इतिहास का अद्भुत अभ्यासी था। ब्राह्मणों के क्रियाकांडों में पूर्ण रागी था तथा छट्ठ के पारणे छट्ठ करता था। वह हाथ को ऊँचा रखकर आतापना लेता था। भद्र-प्रकृति का था। विकृति का दमन करनेवाला तथा संस्कृति का रक्षक था। उसके काम-क्रोध शांत थे तथा मान माया प्रशांत थे। ऐसा करते हुए परिव्राजक को शिवराजर्षि की तरह विभंग-ज्ञान उत्पन्न हुआ जिससे उसे ब्रह्मदेवलोक के देवों की आयुष्य स्थिति का ज्ञान हुआ।

विभंगज्ञान—विभंगज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान में सम्यक्त्व का अभाव और विपरीतता का सद्भाव होता है उसे विभंगज्ञान कहते हैं तभी तो असंख्यात देव देवी होनेपर भी इन ऋषिजी को केवल ब्रह्मलोक (पांचवां देवलोक) के देव की आयुष्य स्थिति का ज्ञान हुआ है। दूसरे देवलोक का ज्ञान अभी अज्ञात है। अतः कहा है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है तथा दोनों के अभाव में सम्यक्चारित्र भी असंभव है।

तापस-तापसी—

पुद्गल परिव्राजक तापस था पर तपस्वी नहीं था। तपस्वी शब्द का अर्थ इसप्रकार है—

"प्रकृष्टं रागद्वेषादितामसं राजसं भाव-रहितं तपः अस्ति यस्य स तपस्वी।" जिस तप में राग, द्वेष, बदला, नियाणा, तामसिक तथा राजसिक भाव नहीं है, केवल स्वयं की आत्मा पर अधोभव की लगी हुई कर्म रज को नाश करने के लिए की हुई तपस्या से ही वह तपस्वी कहलाता है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के मालिक को शुद्ध, मर्यादित अवधि ज्ञान की प्राप्ति होती है।

पुद्गल परिव्राजक तप करता था परन्तु उसके तप में आत्मा की सुंदरता का विचार नहीं होने से आत्मप्रदेशों पर चिपकी हुई रजकण जितनी नष्ट होनी चाहिए उतनी नहीं होती है। हजार भेदों में से कभी एक प्रकार का ज्ञान प्राप्त करले तो भी दूसरा ज्ञान अस्पष्ट होने से उतना अज्ञान ही होता है। विभंग ज्ञान भी अज्ञान ही है। अतः परिव्राजक को इतना हीं आभास हुआ कि ब्रह्मदेवलोक के देव का जघन्य आयुष्य १० हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट १० सागरोपम से किसी की आयु अधिक नहीं होती है।

इसप्रकार के ज्ञान को ही परिव्राजक सत्य मानकर स्वयं के आसन पर से खड़ा हुआ तथा आश्रम में उपकरण रखकर आलंभिका नगरी की जनता को यह बात कही।

परीव्राजक की यह प्ररूपणा जनता को रुचिकर नहीं लगी।

उसी समय देवाधिदेव भगवान महावीरस्वामी आलंभिका नगरी में पधारे तथा समवसरण में विराजमान हुए।

जनता की बात की निशंक करने के लिए गौतमस्वामी ने पूछा।

जवाब में भगवान ने कहा कि हे गौतम! देवों को जघन्य स्थिति १० हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की है। उसके बाद किसी देव की आयुष्य मर्यादा नहीं है।

भगवान ने और कहा कि सौधर्म कल्प से लेकर इषत् प्राग्भार पृथ्वी (सिद्धशिला) में वर्ण गन्ध, रस और स्पर्शरहित तथा सहित द्रव्य भी है। भगवंत का उपदेश सुनकर पर्षदा अपने अपने घर गई तथा पुद्गल परिव्राजक ने स्वयं के उपकरण धारण किये तथा साथ साथ विभंग ज्ञान भी नाश हुआ।

फिर प्रभु के चरणों में प्रव्रज्या स्वीकार कर कर्मों से मुक्त बने तथा समस्त दुःखों का नाश किया।

भगवान की बात सुनकर गौतमस्वामी प्रसन्न हुये तथा सभी अपने-२ घर गये।

॥ बारहवां उद्देशक समाप्त ॥

समाप्ति वचन

अज्ञानियों के अंधकार को दूर करने के लिए चमकते हुए सूर्य के समान, संयम और ब्रह्मचर्य की साधना के द्वारा चमकते शुक्र के तारा के समान, उपदेशामृत द्वारा जीवों के कषाय को शांत करने में चांद के समान जर्मन, फ्रांस, इटली, अमेरिका, युरोप, आदि पाश्चात्य विद्वानों को जैन धर्म का परिचय कराने में ब्रह्मा के समान, स्याद्वाद, नयादि तत्त्वज्ञान द्वारा भारतीय विद्वानों की धार्मिक रक्षा करने में विष्णु के समान, अज्ञान, मिथ्याभ्रम और रूढ़िवाद को कुचलने में शंकर के समान शास्त्र विशारद, जैनाचार्य, १००८ श्रीविजय धर्मसूरीश्वरजी महाराज, भगवान महावीरस्वामी के ७४वे पाट परम्परा को देदीप्यमान करके जगत में अमर हुए हैं। उनके अंतेवासी, शासन दीपक, स्व. मुनिराज, श्री विद्याविजयजी स्वयं की साहित्य रचना वक्तृत्व कला, आदि सद्गुणों द्वारा जैन अजैन में प्रसिद्ध हुए थे। उनके शिष्य न्याय-व्याकरण-काव्यतीर्थ, पंन्यास श्रीपूर्णानंद विजय (कुमार श्रमण) ने स्वयं के श्रुतज्ञान के अभ्यास के लिए, स्वाध्याय की वृद्धि हो उसके लिए, भगवतीसूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति) जैसे ग्रन्थ पर स्वयं की मतिसार से अनुसार विवेचना की है।

भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग—१ विषय में

कितने ही अभिप्राय

"आपका पत्र तथा स्वयंसेवक के साथ भेजी हुई पांच पुस्तकें "भगवती सार" की मिली है। उसका विवेचन रोचक शैली में बहुत ही सुन्दर हुआ है। यह पुस्तक सामान्य ज्ञानवालों के लिए उपयोगी होगी ऐसा प्रयत्न किया है।"

—आचार्य श्रीविजयसमुद्रसूरीश्वरजी की
आज्ञा से—इन्द्रदिन्नसूरि

✿ ✿

"श्री भगवतीसूत्र सारसंग्रह ग्रन्थ की २ नकल आपने भेजी वह मिल गई है—आपके पूज्य गुरुदेव मुनिराज श्री विद्याविजयजी के द्वारा लिखे गये इस ग्रन्थ पर आपने विस्तृत विवेचना की है, अतः बहुत ही सुन्दर बनकर साध्वी, महाराजों को उपयोगी बनेगी।"

—आचार्य श्री सूर्योदयसूरी

✿ ✿

"श्री भगवतीसूत्र के विवेचन की पुस्तक मिली। परमपूज्य पंन्यास श्री पूर्णानंदविजयजी महाराज साहब ने बहुत परिश्रम कर उसे लोक भोग्य बनाई है। तत्त्व की गंभीरता को उन्होंने सरल भाषा में प्रतिपादित किया है। इस अपूर्व ग्रन्थ रत्न के माध्यम से वीतराग के परम सत्य का दिव्य प्रकाश जनमानस तक पहुंचे यही मेरी शुभकामना।"

—पद्मसागरसूरि

✿ ✿

"पुस्तक बहुत ही सुन्दर तथा बोधक है। तत्त्वों की गहन बात भी सरलता से समझाने से बालजीवों को बहुत ही उपयोगी बनेगी। आपने जो संपादन में श्रम किया है यह प्रशंसनीय है।"

—मुनिराज श्रीजिनचंद्रविजयजी महाराज

❁ ❁

"भगवतीसूत्र सारसंग्रह नामक इस ग्रन्थ में पू. पन्यास श्री पूर्णानंदविजयजी महाराज ने भगवतीसूत्र के पांच शतक पर जो विस्तृत विवेचना की है जिससे वाचक वर्ग को कठिन बातें भी सरल बनेंगी। आपने अप्रमत्त तथा परिश्रम द्वारा इस ग्रन्थ का परिश्रम तथा प्रकाशन कर भवि जीवों के कल्याण के लिए ज्ञान का प्रकाश फैला रहे हो। आपका ज्ञान आराधना का प्रयत्न बहुत ही अतुल्य है तथा धर्मी जीवों के कल्याण के लिए बहुत ही उपयोगी होगा। यह जानकर आनंद के साथ बहुत अनुमोदना।"

—आचार्य श्रीविजयअशोकचन्द्रसूरि महाराज
(डहेलावाला)

❁ ❁

"जैन दर्शन में आगमग्रन्थ साहित्य और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट स्थान रखते हैं। उनमें भी भगवतीसूत्र का महत्त्व अधिक है। इस महान् ग्रन्थ का आपके गुरुदेव ने सार निकालकर अवतरण किया और आपने इसे सुन्दर, सरल तथा लोकप्रियभाषा में विस्तृत कर संस्करण किया। जैनशासन के चरणों में ऐसा अमूल्य ग्रन्थ अर्पित किया। यह जैन संघ पर महान् उपकार है। कहा है कि 'गुरुशिष्य' ने जैनसमाज को ऋणि बनाया है। ऐसे उपयोगी तथा उपकारी ग्रन्थ की एक नकल भेज कर मुझे ज्ञान प्रसाद का आस्वाद कराया है इसके लिए बहुत ही उपकृत हूं।

भगवतीसूत्र एक साहित्यिक, मार्मिक और तात्त्विक ग्रंथ है जिसको आपने अनेक बार चातुर्मास में व्याख्यान में सरल प्रकार से श्रोताओं को सुनाया है। इस अनुभव का सार आपने प्रस्तुत ग्रन्थ में रखकर सुन्दर

बनाया है जो जैन समाज के लिए एक सुअवसर बनगया हैं। 'गौतम-महावीर' के प्रश्नोत्तर के द्वारा आश्रव-संवर-निर्जरा-जीव-अजीव आदि तत्व का निरुपण करके वाचक को आगम का माभिम ज्ञान सरल रूप में उपलब्ध कराया इसके लिए आपको अनेक बार धन्यवाद।

प्रस्तुत पुस्तक का वांचन शुरु किया हैं। शैली भी रस तथा ज्ञानप्रद है। विशेष वांचन मनन से आत्मा रसिक बनती है ऐसा मालूम होता हैं।

—डा. भाईलाल एम. बावीशी
एम. बी. बी. एस. (बम्बई)
एफ. सी. जी. पी. (इन्डिया)

❀ ❀

श्री भगवतीसूत्र सार-संग्रह नामक पुस्तक की एक नकल जिसके संपादक और विवेचक पू. पं. श्रीपूर्णानन्द विजयजी म. साहब है। उन्होंने मुझे भेजकर बड़ा अनुग्रह किया हैं। इस पुस्तक की मांग बढ़ने से दूसरी आवृति छप रही है ऐसा मालुम हुआ है।

पू. पं. श्रीपूर्णानंद विजयजी म. सा. श्रुतज्ञान के अच्छे अभ्यासी होने के साथ-२ एक वक्ता भी है। ऐसे विद्वान पुरुष ने भगवतीसूत्र जैसे उच्च कोटी के ग्रन्थपर मेरे जैसे प्राथमिक अभ्यासी को दो बोल लिखना बाल चेष्टा लगती है। हीरे की किमत झवेरी ही कर सकता है शाक बेचनेवाले क्या जाने ?

कोई भी पुस्तक कितने प्रमाण में अच्छी है तथा उसके लेखक कौन है ? उनका शास्त्राभ्यास कितना ? चारित्र कितना उज्जवल ? स्वानुभूति कितनी हुई हैं ? उसके ऊपर लिखी है। पुस्तक लिखने का हेतु तो सत्य आत्म धर्म का प्रचार होता हैं।

आत्मधर्म यह कोई बाह्याडंबर या बाजार की वस्तु नहीं हैं। अन्तस्थल में उतारने का एक विज्ञान है जो पूर्णता की तरफ ले जाता हैं। जगत का

"आपने कृपा करके मुझे आगमसूत्र सारसंग्रह भाग १ भेंट किया इसके लिए आभार। इसकी समालोचना लिखना मेरा विषय नहीं है तथा ऐसी योग्यता भी [illegible] मुझे नहीं [illegible] क्षमा करना।"

—कस्तूरभाई लालभाई की १००८ बार
[illegible]

"[illegible] श्री आगमसूत्र सारसंग्रह प्रथम भाग पुस्तक मिली। अवलोकन किया। [illegible] श्रीपंचमांग भगवती का सार बहुत ही परिश्रमपूर्वक तैयार किया है उसके लिए धन्यवाद! जिज्ञासु आत्मा के लिए बहुत उपयोगी होगा। आप इस प्रकार गुजराती में यह सूत्र संपूर्ण करके भव्य आत्माओं के लिए उपकार करोगे ऐसी मेरी आपको विनम्र भाव से विनंती है। शासनदेव यह कार्य जल्दी से पूर्ण करने की शक्ति और प्रेरणा देवे ऐसी शुभकामना रखता हूँ।"

—श्री नेमि अमृत शांति चरणोपासक
प्रवर्तक मुनिश्रीनिरंजनविजय की वंदना
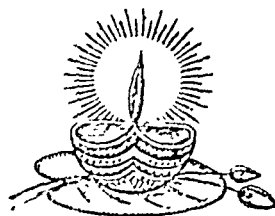
पं. श्री पूर्णानंदविजयजी महाराज के अन्य ग्रंथ

❀ ❀ ❀

१. प्रमाणनय तत्त्वलोक (न्याय ग्रंथ)	१–५०
२. धर्मी बनो (गुजराती)	१–५०
३. दोष विद्याप्रकाश (औपदेशिक)	०–५०
४. बारव्रत (गुजराती) (त्रीजी आवृत्ति)	१–५०
५. सिद्धचक्र भगवान (मराठी)	अमूल्य
६. जैन धर्ममां उपयोगनी प्रधानता	,,
७ भ. महावीरस्वामी का दिव्य संदेश हिन्दी- गुजराती--मराठी	,,
८. भ. महावीर स्वामी का दिव्य जीवन	१–००
९. भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग १ (बीजी आवृत्ति)	८–००
१०. भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग १ (हिन्दी)	१०–००
११. भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग २ (गुजराती)	८–००
१२. भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग ३ (गुजराती)	१०–००
१३. भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग–२ (हिन्दी)	१०–००
१४. भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग ४ (प्रेस में)	

प्राप्तिस्थान :
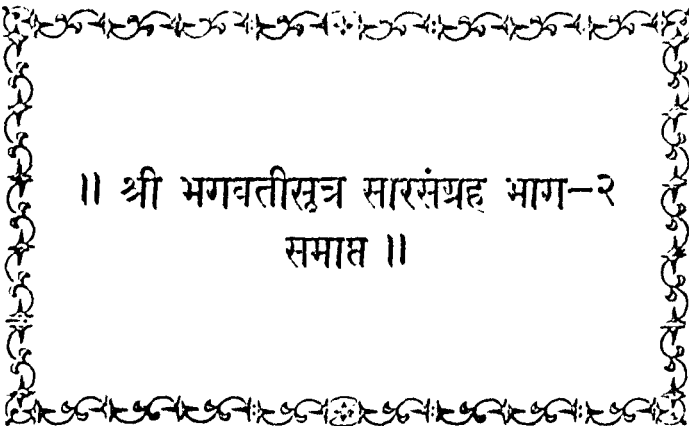
जगजीवनदास कस्तूरचंद शाह

C/O श्री विद्याविजय स्मारक ग्रंथमाला,

साठंबा

(साबरकांठा–गुजरात) ए. पी. रेल्वे

॥ श्री भगवतीसूत्र सारसंग्रह भाग–२
समाप्त ॥